हिन्दी साहित्य

का

रीतिकाल

राजस्थान प्रकाशन, जयपुर

आमुख

हिन्दी साहित्य का "रीतिकाल" जिन कारणों से हमारा ध्यान आकर्षित करता है, उनमें एक बड़ा कारण है इस युग के कवियों की कविता में उपलब्ध शृंगारिता व कलात्मकता। इस काल के कवियों की दृष्टि में जीवन का अर्थ शृंगार–विलास का पर्याय बन गया था और इसी कारण कोई स्वस्थ जीवन-दृष्टि नही उभर पाई। बड़े-बड़े समीक्षकों ने रीतिकाल की निन्दा इसी आधार पर की है। मैं इस निन्दा को उचित नही मानती हूँ। मेरी मान्यता है कि रीतिकाल की चाहे जितनी निंदा की जाये किन्तु यही वह काल है जबकि कवियो ने अपनी कला-प्रतिभा का परिचय देकर उसे कला का स्वर्णयुग बनाने में अथक परिश्रम किया। जहाँ तक जीवन-दृष्टि के उन्मेष और सामाजिक परिप्रेक्ष्य की प्रस्तुति का प्रश्न है, उसका भी इस काल की कविता में अभाव नहीं है। कवियों ने जो वर्णित किया है, जैसा चित्र खींचा है, वह तत्कालीन परिवेश की कहानी कहने के लिए काफी है।

प्रस्तुत कृति में आलोच्य काल की प्रेरक परिस्थितियो नामकरण के औचित्य, प्रवहमान धाराओं के परिचय, प्रमुख व गौण प्रवृत्तियो का विश्लेषण करने के साथ-साथ उस काल के कवियों का संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। एक प्रकार से यह कृति हिन्दी साहित्य के रीतिकाल के इतिहास का लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। मैंने इसके लेखन के दौरान जिन विद्वान समीक्षकों की कृतियो से सहायता ली है, उनके प्रति नमन एवं आभार। कृति के प्रकाशक श्री राजेन्द्र कुमार जसोरिया, राजस्थान प्रकाशन, जयपुर के प्रति भी धन्यवाद व्यक्त करती हूँ जिन्होने इसे प्रकाशित किया है।

सुषमा अग्रवाल

4 य 4 जवाहरनगर, जयपुर

दूरभाष : 852224

अनुक्रम

[]

1. रीति काव्य

रीति-शास्त्र और रीति काव्य का जो असली अर्थ है, उसे विस्मृत करके कुछ भिन्न और विशिष्ट अर्थों में हिन्दी साहित्यान्तर्गत इन शब्दों का प्रयोग किया गया है। वास्तव में रीतिशास्त्र का अर्थ उस रचना से है जिसमें रीतिसिद्धान्त विषयक व्यापक विवेचन हो। रीति तो एक विशेष प्रकार की चमत्कारपूर्ण रचना है। इसी "रीति" को आचार्य वामन ने काव्यात्मा भी घोषित किया है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार रस, ध्वनि और अलंकार आदि को काव्यात्मक घोषित किया गया है। ऐसी स्थिति में रीतिशास्त्र और रीति काव्य में केवल उन्हीं ग्रंथों की विवेचना-मीमांसा अपेक्षित है जिनमें रीति को काव्यात्मा मानकर काव्य के स्वरूप का विवेचन किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र में रीति शब्द उस काव्यांग विशेष के लिए ही रूढ़ है, जिसे काव्यात्मा घोषित कर आचार्य वामन ने एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया। आचार्य वामन के अनुसार, "गुण-विशिष्ट रचना अर्थात् पद संघटना-पद्धति-विशेष का नाम रीति है।" यदि व्याकरण को आधार बनाया जाय तो "रीति" शब्द मार्ग का वाचक ठहरता है। उक्त दोनों शास्त्रों में रीति का अर्थ एक जैसा नहीं है। डॉ. महेन्द्र कुमार का मत है कि, "यह पार्थक्य किसी मौलिक विभेद का द्योतक न होकर व्यावहारिक विकास का ही परिणाम रहा है। बात यह है कि व्यक्ति या वर्ग विशेष अपने भावों की अभिव्यक्ति जिस विशिष्ट रूप में करता है, उसकी विशेषताएँ जब दूसरों के लिए अपने अभिव्यक्ति-व्यापारगत अनुकरण और अनुसरण का लक्ष्य हो जाती है तो उनकी विधात्री पद्धति-विशेष लोक व्यवहार में "मार्ग" शब्द से ही अभिहित होती है।"[1]

दण्डी का कथन है कि काव्य-रचना के दो मार्ग हैं—वैदर्भ और गौड़ किन्तु कवि में आश्रित होने के कारण उसके अनेक भेद हो जाते हैं। स्पष्ट रूप से यह प्रतीत होता है कि "वामन" ने रचना-पद्धति के लिए प्रयुक्त "मार्ग" जैसे प्रयोग को ध्यान में रखा होगा और उसी के पर्याय रूप में "रीति" शब्द का प्रयोग किया होगा। इसका कारण यह भी है कि "दण्डी" ने जिन दो मार्गों और उनके नियामक दस गुणों की ओर संकेत किया है, वे "वामन" के यहाँ भी स्वीकृत हैं। आगे के आचार्यों में "भोज" ने तो स्पष्ट शब्दों में "रीति" को "मार्ग" का ही पर्याय माना है। इससे यह साफ हो जाता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र मे "रीति" शब्द काव्य-रचना के मार्ग अथवा पद्धति विशेष के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है।

हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन कवियों मे भी ऐसे अनेक कवि हुए हैं जिन्होंने काव्य की रचना-पद्धति को "रीति" और उसी के पर्याय "पंथ" से सम्बोधित किया

है । चितामणि, मतिराम, भूषण और देव आदि ऐसे ही कवि है । उदाहरणार्थ निम्नोद्धृत पंक्तियाँ देखिए—

1. "रीति सुभाषा कवित्त की बरनत बुध अनुसार" ।
(चिन्तामणि : कविकुलकल्पतरु)

2. "सो विश्रब्ध नवौढ़ यों बरनत कवि रसरीति" । (मतिराम : रसराज)

3. "सुकाविन हूँ की कछु कृपा समुझि कविन को पंथ" ।
(भूषण : शिवराज भूषण)

इसी क्रम मे "देव" के "शब्द रसायन" और "भिखारीदास" के "काव्य-निर्णय" व "शृंगार निर्णय" में आये ये प्रयोग देखिए—

1. अपनी-अपनी रीति के काव्य और कवि रीति (शब्द रसायन)
2. काव्य की रीति सिरकी सुकबीन्ह सों (काव्य-निर्णय)
3. जाते कछु हीं हूँ लह्यौ कविताई को पंथ (शृंगार-निर्णय)

हिन्दी साहित्य के कुछ इतिहास लेखकों ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को जो "रीतिकाल" की संज्ञा प्रदान की है, वह भी इसी ओर सकेत है कि "रीति" को व्यापक अर्थ मे ग्रहण करना चाहिए । उन्होंने रीति या मार्ग को काव्य रीति या काव्य-लक्षण के रूप में ग्रहण करके उस काल को रीति-काल नाम से अभिहित किया है जिसमें इस प्रकार के लक्षण ग्रन्थों के लेखन का प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है । इस स्थिति में "रीतिशास्त्र" के अन्तर्गत केवल रीति-सिद्धान्त की चर्चा करने वाले ग्रन्थ ही नहीं, वरन् उन सभी ग्रन्थों का समावेश हो जाता है जिनमे काव्य के लक्षण देने का प्रयन्न किया गया हो, चाहे वे अलंकार ग्रंथ हों, चाहे रस, वक्रोक्ति और रीतिग्रंथ हों, सभी को सामूहिक रीति से रीतिग्रन्थ कहेंगे । अतः रीतिशास्त्र का तात्पर्य उन लक्षण देने वाले या सिद्धान्त चर्चा करने वाले ग्रन्थों से है जिनमें अलंकार, रस, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि के स्वरूप, भेद, अवयव आदि के लक्षण दिये गये हों । ऐसे ही रीतिकाव्य उस काव्य को कहेंगे जिसमें रस, रीति, अलंकार आदि के उदाहरण के रूप में या इनका ध्यान रखकर काव्य लिखा गया हो, उनके लक्षण चाहे न भी दिये गये हों । हिन्दी मे–विशेष रूप से रीतिकाल में लिखे गये ऐसे ग्रन्थ हैं जिसमें इन काव्य-प्रवृत्तियों या सिद्धान्तो में से एक या अनेक सिद्धान्तों के या उनके किन्हीं अवयवों या भेदों के लक्षण देकर फिर उनके उदाहरण दिये गये हैं । इन ग्रन्थो का हम रीतिशास्त्र के भीतर ही अध्ययन करेंगे क्योंकि उनमें लक्षण भी दिये गये हैं, परन्तु कुछ ऐसे ग्रन्थ भी हैं जिनकी रचना स्वच्छंद अथवा चरित्र प्रधान न होकर इन लक्षण ग्रन्थों की सी परिभाषाएँ दिए बिना ही किसी एक या

अनेक सिद्धान्त या उसके अवयवों या भेदों के लक्षणों को दृष्टि में रखकर केवल उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। उन्हें हम रीतिकाव्य सम्बन्धी ग्रन्थ कहेंगे। साथ ही लक्षण ग्रन्थों में भी उदाहरण रूप कवि की स्वरचित रचनाएँ रीतिकाव्य के अन्तर्गत आ जाती हैं।[2]

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि "रीतिकाव्य" वह काव्य है जिसकी रचना विशिष्ट/पद्धति विशिष्टनियमों और काव्यशास्त्र के लक्षणों आदि को ध्यान में रखकर की गयी है। हिन्दी साहित्य के उत्तरमध्यकाल या रीतिकाल में ऐसे रीति कवियों की कोई कमी नहीं है जिन्होने उक्त पद्धति पर काव्य रचना की है। रीतिकालीन रीतिकाव्य के अध्ययन से उसके कतिपय लक्षणों को समझा जा सकता है।

रीतिकाव्य की परम्परा :

यह निर्विवाद है कि रीतिकाव्य या रीतिशास्त्र लिखने की परम्परा हमें संस्कृत से ही प्राप्त हुई है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र के पाँच काव्य सिद्धान्तों का कुछ न कुछ प्रभाव हिन्दी रीतिकाव्य पर अवश्य पडा है। हाँ, शास्त्रीय विवेचन रीति और वक्रोक्ति के संदर्भ से अधिक नही किया गया है। अलंकार, रस और ध्वनि के ही लक्षण और उदाहरण देने का प्रयत्न सामान्य रूप से देखने को मिलता है। हाँ, इन सिद्धान्तों का विवेचनात्मक प्रतिपादन अपेक्षाकृत कम हुआ है। रस के अन्तर्गत नायिका-भेद और शृंगार रस को लेकर चलने वाले ग्रन्थों की संख्या सबसे अधिक है। सभी रसों का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करने वाले ग्रंथ संख्या मे बहुत कम हैं। डा. भागीरथ मिश्र की धारणा है कि अलंकारो के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत करने का सबसे अधिक प्रयत्न हुआ है परन्तु उनका लक्षण भाग बहुत अधिक शुद्ध, पूर्ण और स्मरणीय नहीं है। अधिकांशतः अलंकार का रूप लक्षण से उतना स्पष्ट नहीं होता, जितना उदाहरण से होता है। इसी प्रकार ध्वनि सिद्धान्त के अन्तर्गत भी सामान्यतः शब्द-शक्ति से प्रारम्भ करके रस और अलंकारो पर समाप्त करने वाले ग्रंथ ही अधिक हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की पूरी व्याख्या और विस्तृत विवेचना करने वाले ग्रन्थ बहुत कम हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी के रीतिशास्त्रीय ग्रन्थों मे काव्यशास्त्र से अपना परिचय प्रकट करना, लक्षण की धारणा के आधार पर सुन्दर हिन्दी काव्य-रचना द्वारा उदाहरण प्रस्तुत करना और इस प्रकार शास्त्रीय प्रणाली पर कविता लिखना इन लेखकों का प्रमुख ध्येय जान पड़ता है, साहित्यशास्त्र के विविध अंगों और रूपों का विद्वतापूर्ण शास्त्रीय ढग से विवेचन और निरूपण करना नही।[3]

उपर्युक्त स्थिति आकस्मिक नहीं रही है, इसके कई कारण है। हमें पहला कारण यह प्रतीत होता है कि हिन्दी में रीतिशास्त्र अथवा रीतिकाव्य लिखने वाले

कवियों के पूर्ववर्ती एवं समकालीन संस्कृत के ऐसे विद्वान आचार्य थे जिन्होंने काव्य-शास्त्र के एक या अधिक अंगों को लेकर बड़ी विस्तृत और स्पष्ट व्याख्या की थी। परिणामत: हिन्दी कवियों के सामने ऐसी कोई नयी सामग्री नहीं थी जिसके आधार पर वे संस्कृत के विद्वानों द्वारा की गयी विवेचना को विकास और नवीनता का मार्ग दिखलाते। एक दूसरा कारण यह था कि हिन्दी मे लिखने वाले संस्कृत साहित्य के न तो मर्मज्ञ विद्वान थे और न उसे पूरी तरह समझते थे। यही कारण है कि हिन्दी के रचनाकारों ने जो भी थोड़ा बहुत समझा, पढ़ा और सुनकर जाना, उसी को सब कुछ मानकर कुछ अधूरे से लक्षण देते हुए रीतिकाव्य का प्रणयन किया। तीसरा कारण यह भी है कि जिन लोगों को ध्यान में रखकर काव्यशास्त्रीय पद्धति पर ग्रन्थ-संरचना की गयी थी वे स्वयं बहुत कम मात्रा में शास्त्रीय थे और विवेचन में कम रुचि रखते थे। ये तो वास्तव में मनोरंजन मात्र के लिए हिन्दी काव्य चाहते थे। प्रायः यह भी देखने में आया है कि अधिकतर रीतिशास्त्रीय ग्रंथ राजाओं के आश्रय में रचे गये और इनके रचनाकारों का उद्देश्य काव्य-रचना उतना नही था, जितना कि अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करना था। ऐसी स्थिति में अधूरे लक्षण देकर उन्हे स्पष्ट करने की पद्धति हिन्दी काव्य रचना में दिखलाई देती है।

डॉ. भगीरथ मिश्र ने एक चौथा कारण यह भी बतलाया है कि इसके पूर्ववर्ती हिन्दी काव्य की जो धाराएँ थी, उनमे कोई भी शुद्ध काव्य की धारा नही मानी जा सकती थी। ये ऐसी धाराएँ है जिनमें या तो कवि वीरो और राजाओं की गुण-गाथा का अत्युक्तिपूर्ण वर्णन किया करते थे अथवा धार्मिक दृष्टिकोण से भक्ति व उपदेश आदि से सम्बन्धित रचनाएँ लिखते थे। शुद्ध और स्वच्छद कवि इन दोनों धाराओ मे अपनी रूचि का प्रकाशन प्राप्त कर जाय, यह हमेशा संभव नही होता।[1]......इसीलिए रीतिकाल में यह स्थिति दिखाई देती है कि कविगण या तो राजाओं का गुणगान करते हैं अथवा चमत्कारपूर्ण ढंग से अपने कवित्व का प्रदर्शन करते हैं। जहाँ चमत्कारप्रदर्शन अथवा पांडित्य-प्रदर्शन हो, राजाओं की प्रशंसा हो वहाँ न तो गहरी शास्त्र-चर्चा संभव है और न शुद्ध कवित्व ही संभव हो पाता है। हिन्दी साहित्य का रीतिकाल बावजूद अनेक विशिष्टताओं के इस भूमिका पर कमजोर लगता है। हिन्दी का जो रीति शास्त्र है, उसका आधार पूरी तरह संस्कृत काव्य-शास्त्र है। जब हम यह कह देते हैं कि हिन्दी का रीतिशास्त्र संस्कृत काव्य-शास्त्र को आधार मान कर चला है, तो इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि हिन्दी में रीतिशास्त्र लिखने वाले प्रत्येक लेखक ने संस्कृत काव्यशास्त्र को पूरी तरह पढ़ लिया है अथवा संस्कृत के किसी ग्रन्थ को पूरी तरह हिन्दी में उतार दिया था।

रीतिकाव्य के अन्तर्गत जिन संस्कृत ग्रन्थों को आधारस्वरूप स्वीकार किया गया है, वे ग्रन्थ प्रमुखत: ये हैं : "भरत का नाट्यशास्त्र" भामह का काव्यालंकार, दण्डी का काव्यादर्श, उद्भट का अलंकार सार संग्रह, केशव मिश्र का अलंकार शेखर

अमरदेव की "काव्यकल्पलतावृक्ष", जयदेव का "चन्द्रालोक", अप्पय दीक्षित का "कुवलयानन्द", मम्मट का "काव्यप्रकाश", आनन्दवर्धन का "ध्वन्यालोक", भानुदत्त की "रसमंजरी", "रसतरंगिणी", और विश्वनाथ का साहित्य दर्पण आदि। संस्कृत के इन ग्रंथों में पहले छः ग्रन्थों का आधार ग्रहण करने वाले रचनाकारों में केशव और उनके कुछ परवर्ती कवियों को लिया जा सकता है। हिन्दी के जिन आचार्यों ने केवल अलंकार पर लिखा है उन्होंने प्राय: "चन्द्रालोक" या "कुवलयानन्द" को अपना प्रमुख आधार बनाया है। जिन हिन्दी कवियों ने ध्वनि को लेकर अपना विवेचन प्रस्तुत किया है, उन्होंने मम्मट के "काव्य प्रकाश" को आधार रूप में ग्रहण किया है। इसी प्रकार रस और नायिका भेद को लेकर लिखे गये ग्रन्थों की सामग्री प्राय: "रस मंजरी", "रस तरंगिणी", "साहित्य-दर्पण" और "नाट्यशास्त्र" के आधार पर ली गयी है। एक उल्लेखनीय बात यह है कि संस्कृत के सभी ग्रन्थों का तो नहीं, किन्तु अधिकतर ग्रन्थों का लक्ष्य यह रहा है कि वे लक्ष्य-सिद्धान्त को पूरी तरह स्पष्ट कर दें और उदाहरण से पुष्ट कर दें। हिन्दी के ग्रंथों में यह उद्देश्य पूरी तरह स्वीकार नहीं किया गया है। ऐसा लगता है जैसे हिन्दी के ग्रन्थकारों ने लक्षण एवं प्रतिपादन को जैसे-तैसे चलता कर दिया है। यही कारण है कि संस्कृत के काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों एवं हिन्दी के काव्यशास्त्रीय ग्रंथो में अन्तर दिखलाई देता है।

बावजूद उपर्युक्त अन्तर के एवं स्थिति के रीतिशास्त्र पर लिखे गए हिन्दी ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है। एक इतिहास लेखक के लिए अथवा समीक्षक के लिए सभी ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत करना भी असंभव नही तो कठिन अवश्य है। इसका एक कारण यह भी है कि इनमें से बहुत से ग्रन्थ ऐसे भी है जो भले ही कितने ही प्रसिद्ध हो किन्तु एक बार छपने के बाद अब उपलब्ध नही है। एक दूसरा कारण यह भी है कि ऐसे बहुत से हिन्दी ग्रंथ हस्तलिखित रहे हैं। ये हस्तलिखित ग्रंथ या तो कुछ साहित्यरसिको के निजी पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं अथवा राज-पुस्तकालयों के पुराने वस्तों में बन्द है। कुछ ऐसे ग्रंथ भी है जो मूल रूप को बिगाड़कर बदल दिये हैं। इस विषय में डॉ. भगीरथ मिश्र ने यह भी कहा है कि कुछ ऐसे ग्रन्थ भी है जो है तो सुरक्षित, पलटे और पढ़े भी जाते हैं, पर ऐसी वस्तु समझे जाते है जिस पर संसार की और विशेषकर समालोचकों की आँख पड़ते ही नजर लग जाने का भय है। अतएव वे घर के कोनो, तहखानों या मन्दिरो में अचल-अडिग और स्थानमोही देवताओं की भाँति पूजा पाते है। वे भाग्यशाली अवश्य है, पर संसार उनसे लाभ किस प्रकार उठाये, यह समस्या है। इस प्रकार प्रचुर सामग्री ऐसी है जिसका अभी तक या तो पता ही नहीं है और यदि पता भी है तो उसका उपयोग करना कठिन और किन्ही दशाओं में असंभव है।[5]

जहाँ तक रीतिशास्त्र की परम्परा का प्रश्न है, उसके विषय में यही कहना उचित लगता है कि हिन्दी की पूर्ववर्ती उपभ्रंश साहित्य में यह परम्परा नही मिलती

है। रीतिशास्त्र की प्रेरणा देने वाला संस्कृत-साहित्य है और इस परम्परा को हिन्दी में लाने का श्रेय आचार्य केशव को है। रीतिकाव्य में केशव का महत्व कई कारणों से है। पहला कारण तो यह है कि ये ही अकेले और पहले आचार्य हैं जिन्होंने शुद्ध काव्य की परम्परा रीतिशास्त्र या रीतिकाव्य की रचना का मार्ग खोलकर डाली थी। आश्रयदाता की बिना प्रशंसा किए काव्य रचना करना और रीतिकाव्य की परम्परा का सूत्रपात करना न केवल महत्वपूर्ण है अपितु उल्लेखनीय भी है। निश्चय ही यह श्रेय केशवदास को मिलता है। केशव के पूर्व भी कुछ ग्रन्थ लिखे गए हैं, जिन्हें हम रीतिशास्त्र के ग्रंथ कह सकते हैं, परन्तु वे विशिष्ट रचनाएँ सी ही हैं, प्रेरक प्रयास के रूप में हम उन्हें ग्रहण नहीं कर सकते हैं। शिवसिंह सरोज के आधार पर जिस ग्रंथ का उल्लेख हमारे साहित्य के इतिहासकार करते रहे हैं, वह पुष्यकवि है और कहा जाता है कि उसने संवत् 770 के आसपास हिन्दी भाषा में संस्कृत के किसी अलंकार ग्रन्थ का अनुवाद किया था। ध्यान देने योग्य यह है कि उक्त ग्रन्थ अभी तक किसी को नहीं मिला है। यदि यह मिल जाता है तो निश्चय ही वह न केवल रीतिकाव्य का वरन् हिन्दी का पहला ग्रन्थ होगा। ऐसी स्थिति में रीतिशास्त्र पर प्राप्त पहला ग्रन्थ कृपाराम का है और जिसका नाम "हित-तरंगिणी" है। इसकी रचना सन् 1541 ई. में हुई थी। यह एक ऐसा ग्रंथ है जो रसरीति का ग्रंथ तो है ही, साथ ही दोहा छन्द में सरस उदाहरणों के साथ लिखा गया है।[6]

"हिततरंगिणी" पाँच तरंगों में विभाजित है और भरत के नाट्यशास्त्र के आधार पर ही नहीं, कहीं-कहीं भानुदत्त की रसमंजरी के आधार पर भी इस ग्रन्थ का प्रणयन किया गया है। इस ग्रन्थ के पश्चात् सन् 1559 ई. में मोहनलाल मिश्र का "शृंगार सार" ग्रंथ मिलता है। इसमें रस और नायिका-भेद का विवरण है। इसी क्रम में अष्टछाप के प्रसिद्ध कवि "नन्ददास" द्वारा रचित "रसमंजरी" भी उपलब्ध है और इसका आधार भी भानुदत्त की "रसमंजरी" है। मिश्रबन्धुओं की धारणा है कि नरहरि के साथ अकबर दरबार में जाने वाले करनेस वन्दीजन के करणाभरण, श्रुतिभूषण, भूपभूषण नामक अलंकार पर लिखे ग्रन्थ केशव के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में आते है।[7] परवर्ती खोजों के अनुसार केशव से पूर्व रीतिग्रंथों की रचना करने वाले कुछ आचार्यों के नाम और लिए जाते है, किन्तु हम निर्भ्रान्त रूप से कहना चाहते है कि रीतिशास्त्रीय परम्परा का सूत्रपात करने वाले सबसे पहले आचार्य केशवदास ही है। केशव ने हिन्दी काव्य-रचना का नवीन मार्ग खोला और आगे के कवियों के लिए एक भूमिका तैयार की।

केशव के बाद जिन आचार्य कवियों ने रीतिकाव्य की परम्परा को आगे बढ़ाया, उनमें दर्जनों कवि है। कुछ प्रमुख कवियों के नाम इस प्रकार हैं—

चिंतामणि, कुलपति मिश्र, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास और जनराज आदि। रीतिकाल में विशिष्टांग निरूपक आचार्यों का भी महत्व है। इन आचार्यों ने रस, अलंकार और छन्द में से एक, दो अथवा तीनों का निरूपण अपने ग्रंथों में किया है। इनमें रस-निरूपण करने वाले कवि-आचार्यों के भी तीन वर्ग किये जा सकते हैं—(क) समस्त रसों के निरूपक, (ख) शृंगाररस-निरूपक और (ग) शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों के निरूपक। समस्त रसों का निरूपण करने वालों में तोष, याकूब खाँ, रामसिंह, सेवादास, बेनीप्रवीन, पद्माकर आदि का, शृंगार रस का निरूपण करने वालों में मतिराम, उदयनाथ, कवीन्द्र, चन्द्रदास, यशवन्तसिंह, कृष्ण कवि आदि का, तथा नायक-नायिका भेद विवेचकों में कालिदास, यशोदानन्दन, गिरिधरदास आदि का नाम लिया जा सकता है। अलंकार निरूपक आचार्यों में मतिराम, भूषण, गोप, दलपतिराय, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह, वैरीसाल, सेवादास, पद्माकर आदि तथा छन्दोनिरूपक आचार्यों में मतिराम, सुखदेव मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, दास, दशरथ, नन्दकिशोर, रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं। यदि इन तीनों अंगों का स्वतन्त्र रूप में लें तो इन कवियों के मुख्यतः ये चार वर्ग होंगे—(1) सर्वांग-निरूपक, (2) रस-निरूपक, (3) अलंकार-निरूपक और (4) छन्दोनिरूपक। कहने का तात्पर्य यह कि रीतिकाव्य मे जो सृजित हुआ, वह संस्कृत काव्य शास्त्र के अनुकरण पर ही है। यह रीतिकाव्य पूरी तरह मौलिक नही कहा जा सकता क्योंकि हिन्दी के कवियों द्वारा जिस रीतिशास्त्र का प्रणयन हुआ है, वह संस्कृत-साहित्य-शास्त्र का पूरी तरह ऋणी है।

संदर्भ संकेत

1. डॉ महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तरमध्यकाल, पृ. 48
2. डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीतिसाहित्य, पृ. 29–30
3. डॉ. भगीरथ मिश्र : वही, पृ. 30
4. डॉ. भगीरथ मिश्र : वही, पृ. 31
5. डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीतिसाहित्य, पृ. 33
6. कृपाराम : हिततरंगिणी, पृ. 1, 2
7. मिश्रबन्धु विनोद भाग एक, पृ. 324

2. रीतिकाल : नामकरण, प्रवर्तन और सीमारेखा

हिन्दी साहित्य उत्तरमध्यकाल आदिकाल की तुलना में कम विवादस्पद है। यह वह काल है जो लगभग दो सौ वर्षों की अवधि को अपने में समेटे हुए है। इस काल को लेकर प्रमुख विवाद नामकरण के संदर्भ से किया गया है। जहां तक इस काल की सीमारेखा का प्रश्न है, उस विषय में कोई विशेष विरोध नही है। प्रवृत्ति-निरूपण को ध्यान में रखे तो यह कहा जा सकता है कि यह भी एक ऐसी स्थिति है जिसने विरोध नही सहा। कारण यह है कि रीतिकाव्य में जो प्रवृत्तियां मिलती हैं, वे प्रायः सर्वमान्य हैं। यह तो हुआ है कि कुछ आलोचक ने रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों के अतिरिक्त भक्ति और नीति को भी उतनी ही महत्ता प्रदान की है जितनी कि शृंगार और रीति-निरूपण को की गयी है। यह स्थिति ऐसी नहीं है जिसे लेकर कोई विशेष विवाद उठ खड़ा हो। वास्तविकता यह है कि रीतिकाल में रचित साहित्य प्रमुखतः रीतिनिरूपण, शृंगार-निरूपण, प्रेम-निरूपण और राज प्रशस्ति के दायरों में घूमता रहा है। फिर विवाद के लिए गुंजाइश भी कहाँ थी। ऐसे रीतिकाल के नामकरण पर जो मत-मतान्तर प्रस्तुत किए गए हैं, उनके आलोक में किसी सही निष्कर्ष पर पहुँचना आवश्यक प्रतीत होता है।

नामकरणः—

नामकरण का प्रश्न चाहे वह व्यक्ति से सम्बन्धित हो अथवा किसी साहित्यिक धारा से, अपने आप में विशेष महत्व रखता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में चारों कालों का नामकरण यह सूचित करता है कि नामकरण के पीछे इतिहासकारों की दृष्टि प्रायः युग-प्रवृत्तियों की ओर रही है। रीतिकाल का नामकरण भी इसका अपवाद नही है। यद्यपि कोई चाहे तो किसी काल-विशेष का नाम किसी विशिष्ट व्यक्ति, किसी विशिष्ट प्रवृत्ति और किसी प्रमुख मनोवृत्ति के आधार पर रख सकता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में छोटे-छोटे काल-खण्डों का नामकरण कभी किसी व्यक्ति के नाम पर किया गया है तो कभी किसी प्रवृत्ति विशेष के आधार पर। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय सबसे पहले ग्रियर्सन ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न कालों का नामकरण किया था। उन्होंने तुलसीदास के बाद के काव्य को रीति काल का नाम दिया। इस युग के धार्मिक और अन्य तरह के कवियों का वर्णन उन्होंने अलग से कर दिया। मिश्रबन्धुओं ने अपने "मिश्रबन्धु विनोद" मे 1681-1889 वि. के काल को अलंकृत काल कहा है और इस युग के महत्वपूर्ण कवियों जैसे सेनापति, देव और पद्माकर आदि के नाम पर उसका उपविभाजन किया है। "अलंकृत काल" नाम रखने के पीछे संभवतः यह भावना थी कि इस काल के साहित्य में

अलंकृति या चमत्कार की प्रधानता है। ध्यान से देखें तो इस काव्य में मात्र अलंकृति या चमत्कार की प्रधानता नहीं है। चमत्कार-प्रदर्शन की मनोवृत्ति अन्य युगों में भी दिखलाई देती है। भक्तिकाल भी इससे अछूता नहीं रहा है। भले ही भक्तिकाल में सायास चमत्कार-प्रदर्शन न हो, किन्तु उस काल को चमत्कार से हीन भी नहीं कहा जा सकता है।

मिश्रबन्धुओं के पश्चात आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस काल का नाम "रीतिकाल" रखा। शुक्लजी ने रीतिकाल नाम देने के बावजद इस काल में शृंगार की प्रधानता को लक्षित करते हुए दबी जुबान में यह भी कह दिया कि कोई चाहे तो इसे शृंगार काल भी कह सकता है। शुक्लजी के पश्चात आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने इसे "शृंगार काल" की संज्ञा प्रदान की। मिश्रजी के बाद भी कुछ लोगों ने इसे कलाकाल नाम दिया। ऐसा नाम देने वालो मे डॉ. रमाशंकर शुक्ल 'रसाल" प्रमुख हैं। कलाकाल और अलंकार काल जैसे नाम एक जैसे ही हैं। प्रश्न यह है कि रीतिकाल के लिए इतने अधिक नाम क्यों सुझाये गये ? और यदि सुझाये गये तो इनमें से किस नाम को स्वीकार किया जाना चाहिए ?

वास्तव में हिन्दी वांङ्मय के इतिहास में रीतिकालीन कवि ने ही काव्य को शुद्ध कला के रूप में ग्रहण किया। रीतिकालीन कविता अथवा साध्य स्वयं थी। अपने शुद्ध रूप में रीति कविता न तो धार्मिक प्रचार अथवा भक्ति का माध्यम थी और न ही सामाजिक सुधार अथवा राजनीतिक सुधार प्रचारिका थी। इस काल के साहित्य का अपना ही महत्व था। इस काल के साहित्य में ऐतिहासिक मूलक सरस कवित्व है। रीतिकालीन साहित्य के जीवन तथा काव्य के प्रति इस नवीन दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण डॉ. भागीरथ मिश्र के इन शब्दों में भली-भाँति हो जाता है जिनमें कहा गया है कि रीतिकालीन रीतिकाव्य की परंपरा ने शुद्ध काव्य के लिए एक निश्चित मार्ग खोल दिया। इसके बिना प्रबन्ध काव्यों मे या तो इतिहास ग्रंथ थे और वे राजा-महाराजाओं अथवा वीरों की अतिशय गुणगाथा से ओतप्रोत थे अथवा वे धार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रंथ थे जिनमे धर्मगाथा कही गयी है। ऐसे ही मुक्त काव्य नीति उपदेश भरे अथवा स्त्रोत और कीर्तन के रूपो मे ही सीमित था। उसी रीति परम्परा ने एक नवीन मार्ग कवि प्रतिभा के विकास के लिए खोल दिया जिसका अवलम्बन करके प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुसार कुछ भी लिखा जा सकता था।

लौकिक जीवन से अनुराग रखने वाले राज्याश्रित कवियों के लिए यह मार्ग विशेष रूप से सहायक हुआ, क्योंकि उन्हें चारण कवियों के समान केवल यशोगान के स्थान में रीतिपद्धति पर लिखकर आश्रयदाता को चमत्कृत करने या रिझाने का तथा मनोरंजन का अवसर मिला। इस प्रकार रीति परम्परा का अपने युग के लिए

ऐतिहासिक महत्व है। हिन्दी के रीतिकाल का साहित्य जनपथ का साहित्य न होकर राजपथ का साहित्य है। संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के साहित्य में कलात्मक विलासिता थी, किन्तु हिन्दी के रीति साहित्य में क्रमशः विलासिता का प्राधान्य होने लगा। रीतिकालीन साहित्य के विलासी, ऐश्वर्यमय वातावरण को देखकर उसे तत्कालीन जनता की मनोवृत्ति का परिणाम या फल कहना बड़ी भारी भूल होगी।

साहित्य के इतिहास का काल विभाजन, कलापद्धति और विषय की दृष्टि से किया जा सकता है। कभी-कभी नामकरण के किसी दृढ़ आधार के उपलब्ध न होने पर उस काल के किसी अत्यन्त प्रभावशाली साहित्यकार के नाम पर ही उस काल का नामकरण कर दिया जाता है। जैसे भारतेन्दु युग, द्विवेदी युग, प्रसाद युग आदि। कभी-कभी साहित्य सृजन की शैलियों के आधार पर काल विभाजन कर दिया जाता है, जैसे छायावादी युग, प्रगतिवादी युग अथवा प्रयोगवादी युग। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम दिया है। उनके बाद इस काल का नाम 'शृंगारकाल' रखने का सुझाव दिया गया। इसके पीछे तर्क यह है कि इस काल के साहित्य में शृंगार की प्रधानता है और शृंगार काल नाम रखने से घनानन्द, बोधा, आलम जैसे स्वच्छन्द काव्यधारा के कवि भी इसमें शामिल हो जाते हैं। रीतिकाल में शृंगार की प्रधानता जरूर थी, किन्तु शृंगार के साथ-साथ वीर रस और रीति की रचनाएं भी इस काल में रची गयीं। नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी साहित्य का वृहद् इतिहास" के सातवें भाग में इस काल के और वीर रस के 188 कवियों का परिचय दिया गया है। फिर हिन्दी साहित्य के आदिकाल में भी शृंगार तथा वीर रस की ऐसी प्रधानता दिखाई देती है। शृंगार इस युग के काव्य का मुख्य विषय जरूर है, किन्तु ऐसी मुख्य प्रवृत्ति नहीं है जो कि इस काल को साहित्य के इतिहास में अन्य कालों से भिन्न बनाती हो। इसको विशिष्ट बनाने वाली प्रवृत्ति "रीति" है अतः उसी के आधार पर इसका नामकरण भी उचित है।

विद्वानों द्वारा सुझाये गये नामों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना आवश्यक जान पड़ता है। कारण यह है कि ये सभी नाम एक सीमा तक उचित भी लगते हैं किन्तु जैसे ही हम दृष्टि को व्यापक बनाने की चेष्टा करते हैं, वैसे ही अधिकांश नामों में दोष दिखाई देने लगता है। सबसे पहले अलंकृत काल को लीजिए। मिश्रबन्धु विनोद ने इस काल को अलंकृत काल कहा है। यह नाम रचना-पद्धति का आधार ग्रहण करते हुए दिया गया है। वास्तव में इस युग के लिए अलंकृत विशेषण उचित प्रतीत नहीं होता है। कारण यह है कि मिश्र महोदयों ने भूल से कह दिया है कि इस युग की कविता में अलंकरण की प्रवृत्ति अधिक है।[2] वास्तविकता यह है कि इस कविता में ऐसा कुछ भी नहीं है। मूल बात यह भी है कि रीति

कविता केवल अलंकृत ही नही है, इतर काव्यांगो को भी यथोचित महत्व दिया गया है। इस काल के कवियों ने अलंकार को अपनाया अवश्य है, किन्तु अलंकार से कही अधिक जोर रस पर दिया गया है। जब रस पर जोर है तो फिर प्रधानता की दृष्टि से भी देखें तो इसे अलंकृत काल नहीं कहा जा सकता है। संस्कृत काव्य-शास्त्र मे अलंकार शब्द विविध काव्यांगों का बोधक अवश्य रहा है। यदि हम अलंकार शब्द का यही भाव ग्रहण करें तो यह नाम स्वीकार हो सकता है, किन्तु ऐसा हम करते नही हैं। इस स्थिति में बावजूद अलकार-प्रयोग के इसे अलंकार काल नही कहा जा सकता है। एक कारण यह भी है कि हिन्दी में "अलंकार" शब्द एक ही काव्यांग के लिए रूढ हो गया है। फिर विविध काव्यांगों का बोधक भी अलंकार को नही माना जा सकता है।

जहाँ तक रीति और शृंगार का प्रश्न है, ये दोनों ही अपनी-अपनी जगह विशेष महत्व रखते हैं। रीतिकाल शब्द का प्रयोग आचार्य शुक्ल ने किया है, किन्तु साथ ही उन्होंने इसे शृंगारकाल कहे जाने पर भी आपत्ति प्रकट नही की है।[3] किन्तु इसका यह अर्थ किसी भी स्थिति में स्वीकार नही किया जा सकता कि इसे शृंगारकाल कहा जाये। जो लोग इसे शृंगारकाल मानते हैं, जैसे कि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र, उनका प्रमुख तर्क यह है कि इस युग के कवियों की मूल प्रवृत्ति शृंगार-वर्णन की रही है। ध्यान से देखें तो यह तो कहा जा सकता है कि इस युग में शृंगार-वर्णन की प्रवृत्ति रही है, किन्तु ऐसी प्रवृत्ति व्यापकता लिए हुए है और वही काव्य का सर्वस्व है, नहीं माना जा सकता है। इस काल में जो रचनाएँ लिखी गयी हैं, वे राज्याश्रय मे रहने वाले कवियों की हैं। ऐसे कवियों ने अपने-अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के उद्देश्य से ही शृंगारिक रचनाएँ लिखी है। कवियों का उद्देश्य अपने-अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करके उनकी काम-वासना को जगाना नहीं था, बल्कि ऐसे वर्णनो से उनका मन मोहते हुए अपने लिए बहुत कुछ प्राप्त करना था, फिर शृंगारिकता कवियों का उद्देश्य कहाँ रही। शृंगारकाल नाम को स्वीकार कर लेने पर एक आपत्ति यह भी है कि इसी युग में ऐसे कवियों की भी कमी नहीं है जो शृंगार–वर्णन करते हुए भी अपने शृंगार–कर्म से सन्तुष्ट नही थे। मतिराम सतसई और भिखारीदास के "काव्य निर्णय" मे ही नही, जसवन्तसिंह के "भाषा भूषण" और याकूब खाँ के "रस भूषण" में भी शृंगारिक मनोवृत्ति से बचने का मनोभाव दिखाई देता है। मतिराम सतसई की ये पंक्तियाँ देखिए :

नृपति नैन कमलनि वृथा, चितवत वासर जाहि।
हृदय कमल में हेरि लै कमलमुखी कमलाहि।।

। मतिराम : सतसई।

इसी प्रकार भिखारीदास के इस कथन को भी देखिए :
आगे के सुकबि रीझिहैं तो कविताई न तौ,
राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है।। काव्य निर्णय।।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण इस बात के सूचक हैं कि ये कवि शृंगारिक काव्य को काव्य तक मानने में हिचकिचाते हैं। गोप, रसरूप और सेवादास जैसे कवियों ने अपने लक्षण ग्रंथों में शृंगार का बहिष्कार भी किया है। यह बहिष्कार भी इस बात का सूचक है कि इन कवियों की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे इस काल के बहुत से कवियों ने अपने ग्रंथों का सृजन काव्यांग निरूपण के उद्देश्य से किया है। कतिपय उदाहरण देखिए जो उपर्युक्त तथ्य को प्रमाणित करते हैं—

(1) भाषाभूषण ग्रंथ को, जो देखै चित लाय।
विविध अर्थ, साहित्य रस, ताहि सकल दरसाय॥

(जसवन्तसिंह : भाषाभूषण)

(2) कंठ करै जो सबनि में, सोभै अति अभिराम।
भयो सकल ससार हित, कविता ललितललाम॥

(मतिराम : ललितललाम)

(3) पढ़त सुनत अति मति बढ़त, आनन्द रुचि अधिकाय।
रसभूषण या ग्रंथ को, नाम धर्‌यो सुख पाय॥

(याकूबखाँ : रसभूषण)

(4) जान्यो चहै जु थोरे ही, रसकवित्त को बंस।
तिन्ह रसिकन के हेतु यह, कीन्हो रससारंस॥

(भिखारीदास : रससारांश)

(5) बाँचि आदि तें अन्त लौं, यह समुझै जो कोइ।
ताहि और रस ग्रंथ की, फेरि चाह नहि होइ॥

(रसलीन : रसप्रबोध)

(6) जो पढिहैं या ग्रंथ को, ह्वै हैं रसिक सुजान।
अलंकार जुत रस कह्यो, समझि लेउ गुनज्ञान॥

(राय शिवप्रसाद : रसभूषण)

वास्तविकता यह है कि इस काल के अन्तर्गत शृंगार रस पूर्णता के सा अभिव्यक्त नहीं हुआ है। अनेक स्थलों पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे शुद्ध शृंगार र न होकर शृंगाराभास हो। इस विषय में डॉ. शिवकुमार शर्मा की टिप्पणी उचि प्रतीत होती है—"क्या रीतिकालीन कवियों ने शृंगार रस के समूचे अगों का सम्य विवेचन किया है? और शृंगार रस के प्रति स्थायी भाव तथा उसके आलम्ब विभाव, उद्दीपन विभाव, अनुभाव और संचारियों का विशद् निरूपण उनके साहि मे किस सीमा तक मिलता है, यह देखने की बात है। समस्त रीतिकालीन कवि के अवलोकन के पश्चात् यही कहा जा सकता है कि इस काल के कवियों में-उन

कृतियों में ऐसी परिपाटी नहीं है। वास्तव में इस काल में शृंगार की प्रधानता सर्वनिश्चित है किन्तु वह स्वतन्त्र नहीं है।[4] शृंगारिकता भी यहाँ रीति पर आश्रित दिखलाई देती है। इस काल में जिन प्रवृत्तियों को महत्व मिला है, वे किसी न किसी रूप में रीति द्वारा पोषित है। ऐसी स्थिति में इस काल को शृंगारकाल की अभिधा प्रदान नही की जा सकती है।

डॉ. महेन्द्रकुमार जैसे समीक्षकों की तो यहां तक धारणा है कि रीतिकाल में भले ही बिहारी जैसे कवियों ने शृंगारिक रचना की हो, किन्तु उसके मूल में उनकी अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति थी, यह नहीं कहा जा सकता है।[5] कारण यह है कि ये शृंगारिक ग्रन्थ विलासी आश्रयदाताओं के मनोरंजन के लिए लिखे गए हैं। फिर इन शृंगारिक ग्रंथों पर काव्यशास्त्र की भी गहरी छाप है। शृंगारकाल नाम को यदि थोड़ी देर के लिए स्वीकार भी कर लिया जाय तो कलापक्ष पूरी तरह छूट जाता है। अतः कह सकते हैं कि इस काल को न तो शृंगारकाल कहा जा सकता है और न इस काल की मूल प्रवृत्ति शृंगारिक है।

"कलाकाल" नाम का औचित्य भी किसी भी प्रकार से समझ में नहीं आता है। ध्यान से देखने पर स्पष्ट होता है कि अलंकार काल और कलाकाल दोनों ही नाम लगभग एक जैसे हैं। अन्तर है तो केवल इतना कि कलाकाल शब्द अपनी परिधि में काव्य के समस्त कलापक्ष को समेटे हुए है, जबकि अलंकारकाल नाम कला के एक ही पक्ष को लेकर चला है। यदि कलाकाल नाम को स्वीकार कर लिया जाय तो यह प्रमाणित हो जायगा कि यह काल कला का ही काल है तथा इसमें भावनात्मकता अथवा रसिकता के लिए कोई स्थान नहीं है। यह स्वीकार नही किया जा सकता, अतः इसे कलाकाल नाम देना संकुचित दृष्टिकोण का परिचायक है।

अब केवल एक नाम शेष रह जाता है और वह है—"रीतिकाल"। इस नाम के साथ-साथ अथवा इस नाम के औचित्य पर विचार करने से पूर्व दो सुझावों पर भी विद्वानो ने विचार किया है। पहले सुझाव के अनुसार इस काल को दरबारी युग कहा जाना चाहिए और दूसरे के अनुसार इसे मुक्तककाल कहा जाना चाहिए। हमारी धारणा है कि ये दोनों ही नाम अपनी-अपनी सीमाओं में कैद हैं, अतः स्वीकार्य नही हो सकते। दरबारी युग नाम से जो मूल आपत्ति उठती है, वह यह है कि यह नाम इस काल की मूल प्रवृत्ति का बोधक नहीं बन पाता। दूसरी बात यह भी है कि इस काल मे रचित साहित्य केवल दरबारियों का ही साहित्य नही है, उनका भी साहित्य है जो किसी भी कारण से सही, दरबारों में प्रवेश नहीं पा सके और उनसे बाहर रहकर अच्छे काव्य का सृजन करते रहे। जहाँ तक मुक्तक काल नाम का प्रश्न है, वह भी अनुपयुक्त है। कारण यह है कि मुक्तक काव्य की रचना तो

भक्ति-काल में भी हुई है, फिर उसे भी मुक्तककाल क्यों न कहा जाय ? जिस प्रकार भक्तिकाल को मुक्तककाल नहीं कह सकते, उसी प्रकार और उसी आधार पर रीतिकाल को भी मुक्तककाल नहीं कहा जा सकता है। रीतिकाल में तो प्रबन्ध-काव्यों की रचना भी हुई है ऐसी स्थिति में ये दोनों नाम न तो उचित ही हैं और हमारी दृष्टि में तो विचारणीय भी नहीं है।

अवधानपूर्वक देखने पर यही ठीक लगता है कि हिन्दी साहित्य के उत्तर मध्यकाल को रीतिकाल नाम से अभिहित किया जाय। शृंगारकाल आदि अन्य नामों की तुलना में यह नाम न केवल वैज्ञानिक और संगत है, अपितु इस युग के कवियों की प्रवृत्ति को भी सूचित करता है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति इस काल की प्रमुख विशेषता है। इतना ही नहीं, शृंगार का विवेचन, अलंकार के प्रति मोह और लक्षण ग्रंथों के आधार पर अथवा लक्षण ग्रंथों में निर्दिष्ट नियमों के आधार पर रचा जाने के कारण जो मूल प्रवृत्ति उभरती है, वह रीति-परकता की ही है। रीति शब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाना चाहिए। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने ऐसा ही किया है। ऐसी स्थिति में रीतिकाल नाम अन्य नामों की तुलना में अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। रीतिकाल नाम को स्वीकार कर लेने पर समूचे रीतिकाल की सभी प्रमुख प्रवृत्तियां इसमें समाहित हो जाती है। वस्तुतः रीति की प्रवृत्ति इस काल में व्यापकता लिए हुए है। डॉ भगीरथ मिश्र ने इसी आधार पर कहा है कि "कलाकाल कहने से कवियों की रसिकता की उपेक्षा होती है, शृंगार-काल कहने से वीररस और राज-प्रशंसा की। रीतिकाल कहने से प्रायः कोई भी महत्वपूर्ण वस्तुगत विशेषता उपेक्षित नहीं होती है और प्रमुख प्रवृत्ति सामने आ जाती है। यह युग रीति-पद्धति का युग था, यह धारणा वास्तविक रूप से सही है।"[6]

इसी प्रकार का मत डॉ. सरनदास भनोत का भी है। उन्होंने लिखा है कि "रीति-काल से अभिप्राय उस काव्य-साहित्य से है जिसकी सर्जना में कवि का ध्यान प्रमुख रूप से काव्य के विभिन्न अंगों के निरूपण की ओर रहा है और रीतिकाल हिन्दी साहित्य का वह युग है जिसमें इस प्रकार के लक्षण-ग्रंथों की रचना ही अधिक हुई। हिन्दी साहित्य के इतिहास में 19वीं एवं 19वीं इन दो शताब्दियों में रचा गया अधिकांश साहित्य इसी प्रकार का है।"[7]

समग्र विवेचन के पश्चात् यही कहना उचित प्रतीत होता है कि उत्तर-मध्यकाल के नामकरण की समस्या निराधार और निर्मूल है। इस काल के लिए रीतिकाल नाम ही सर्वाधिक उपयुक्त और समीचीन है। यह वह नाम है जो समूची रीति-कविता की अधिकांश प्रवृत्तियों को अपने में समेटे हुए है। इस बात का भी कोई अर्थ नहीं है कि शुक्लजी ने इसे दबी जुबान से शृंगारकाल कहा है। भले ही

ऐसा कह गये हों, किन्तु वे शृंगारकाल नाम के पक्ष में स्वयं भी नहीं थे। यदि इसके पक्ष में होते तो यह क्यों कहते कि "कोई चाहे तो इसे शृंगार काल भी कह सकता है।" "कोई चाहे" जैसा प्रयोग ही इस बात की सूचना देता है कि आचार्य शुक्ल इस नाम को स्वीकार नहीं करते है

रीतिकाल का प्रवर्तक:—

जिस प्रकार रीतिकाल के नामकरण को लेकर विवाद खड़ा किया गया है, वैसे ही इसके प्रवर्तक को लेकर भी विवाद खड़ा किया गया है। कुछ विद्वान आचार्य केशव को रीतिकाल का प्रवर्तक कवि मानते हैं, तो कुछ दूसरे आचार्य रीतिकाल के प्रवर्तक का श्रेय आचार्य चिन्तामणि को देना चाहते है। डॉ. श्यामसुन्दर दास का मत है कि समय विभाग के अनुसार केशव भक्तिकाल में पड़ते हैं और गोस्वामी तुलसीदास आदि के समकालीन है। केशव ने "रामचन्द्रिका" लिखी, किन्तु इसी ग्रंथ के प्रणयन के आधार पर केशव को रीतिवादी नहीं माना जा सकता है। वे रीति-ग्रंथों की परम्परा के आचार्य अवश्य हैं, किन्तु उन्हें प्रवर्तक नहीं माना जा सकता है। जिन लोगों ने केशव को रीतिग्रंथों का आदिम आचार्य माना है, वे भी भ्रम के शिकार है। क्योंकि केशव से पहले भी कई रीति-ग्रंथ लिखे जा चुके थे। स्वयं सूरदास ने "साहित्य लहरी" लिखी थी, नन्ददास ने "रसमंजरी" लिखी थी और कृपाराम ने "हिततरंगिणी" व करनेस ने "करणाभरण" जैसे ग्रंथ लिखे थे। केशव का नाम तो बाद में आता है। यह तो माना जा सकता है कि केशवदास ने विधिवत रीतिकाव्य का प्रणयन किया। आचार्य शुक्ल ने भी इन्हें रीतिकाव्य का प्रवर्तक नहीं माना है। उनके अनुसार रीतिकाल का प्रवर्तक चिन्तामणि को मानना चाहिए।

आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि केशवदास ने काव्य के सभी अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु फिर भी वे रीतिकाव्य के प्रवर्तक नहीं हैं। इस विषय में उनका तर्क है कि हिन्दी मे रीति-ग्रंथों की अविरल और अखण्डित परम्परा का प्रवाह केशव की "कविप्रिया" के प्रायः 50 वर्ष पीछे चला है और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं। *प्रश्न यह उठता है कि शुक्लजी की इस मान्यता का आधार क्या है ?* इसके लिए हम आचार्य शुक्ल के मत को ही ध्यान से देखें तो बात स्पष्ट हो सकती है। उन्होंने एक वाक्य में यह लिख दिया है कि हिन्दी के रीतिग्रंथों की अखण्ड परम्परा चिन्तामणि त्रिपाठी से चली है। अतः रीतिकाल का प्रारम्भकर्ता और प्रवर्तक उन्ही को मानना चाहिए। आचार्य शुक्ल का यह मत प्रायः मान्य रहा है, किन्तु परवर्ती खोजों के आधार पर अब केशव को ही रीतिकाल का प्रवर्तक माना जाने लगा है। डॉ. शिवकुमार शर्मा जैसे लोग तो केशव को बहुमुखी प्रतिभा का धनी मानते हुए सभी रीतिकालीन प्रवृत्तियों का प्रवर्तक भी मानते हैं।

इस विषय में यह ध्यान रखना चाहिए कि युग-विशेष की प्रमुख साहि
प्रवृत्ति के आविर्भाव के पीछे कोई न कोई समृद्ध परम्परा भी रहती है और यु
परिस्थितियाँ भी अपनी भूमिका निभाती हैं। इस परम्परा और इन परिस्थि
को आगे बढ़ाने का कार्य कोई साहसी व्यक्ति ही कर पाता है। ऐसा व्यक्ति
ही किसी प्रवृत्ति का पहला व्यक्ति न रहा हो अथवा अपने परवर्तियों की तुलन
भले ही उसका योगदान कम रहा हो, किन्तु प्रेरक होने के कारण वह उस प्र
का प्रवर्तक कहलाने का अधिकारी तो होता ही है। इसी आधार पर यदि
रीति-कविता पर विचार करें तो आचार्य केशव ही ऐसे व्यक्ति ठहरते हैं जि
निःसंकोच भाव से रीतिकाल की व्यापक और पुष्ट रीतिनिरूपण प्रवृत्ति का प्रव
कहा जा सकता है।[8] डॉ. महेन्द्रकुमार ने तो यह भी लिखा है कि इस काल
अनेक कवियों ने केशव को कवि आचार्य कहकर उनके प्रति स्पष्ट शब्दों में अप
श्रद्धा ही व्यक्त नहीं की, देव जैसे इस युग के प्रतिष्ठित कवि के प्रथम रीतिग्र
"भावविलास" के लिए इनकी रचनाएँ ही रही हैं, यह इन दोनों के ग्रंथों की तुल
करके सहज ही जाना जा सकता है। इतना ही नहीं, कुलपति, रसिक गोवि
हमीरदास और ग्वाल आदि इस काल के प्रमुख सर्वांग निरूपकों ने अपने री
निरूपण क्रम में अनेक स्थलों पर इनका तथा इनकी रचनाओं का नामोल्लेख
नहीं किया, अनेक छन्द भी प्रमाण स्वरूप उद्धृत किए हैं—कतिपय तो दं
निरूपण के प्रसंग में इन्हीं के छन्दों को उद्धृत कर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हं
ग्रंथिजन्य आत्मप्रदर्शन की भावना के रूप में जहाँ एक ओर जाने-अनजाने में य
प्रकट कर गये हैं कि केशव जैसे प्रतिष्ठित आचार्य के सदोष काव्य की तुलना
सर्वथा निर्दोष काव्य की रचना करने के कारण हम उनसे ऊँचे रीति-निरूपक
वहीं दूसरी ओर उन्होंने अपने विषय में यह प्रमाणित कर दिखाया है कि उन
आलोचक के लिए अपेक्षित साहस और प्रतिभा अवश्य विद्यमान थी।[9]

केशव के प्रवर्तक होने के विरोध में और चिन्तामणि को रीतिकाल क
प्रवर्तक प्रमाणित करने के उद्देश्य से आचार्य शुक्ल ने एक यह तर्क भी दिया है कि
केशव ने संस्कृत-काव्यशास्त्र की ध्वनिकालपूर्ववर्ती भामह, दण्डी आदि की अलंकार
वादी परम्परा को अपनाया, जबकि रीतिकालीन रीतिकवियों ने मम्मट, विश्वनाथ
भानुदत्त, जयदेव और अप्पय दीक्षित की ध्वनिकाल-परवर्ती परम्परा का आश्र
लिया।[10] इस तर्क को भी आंशिक रूप से ही स्वीकार किया जा सकता है। इसक
कारण देते हुए कहा जा सकता है—

"इस काल में ऐसे भी आचार्य हैं जिनमें कुछ दण्डी आदि की परम्परा क
अलंकार का अनुसरण करते दृष्टिगत होते है तो दूसरे नायिकाओं के अलंकारों को
उद्दीपनादि अलंकारों के साथ एक ही विषय के निरूपण के रूप मे प्रस्तुत कर उन्हीं

के समान प्रकारान्तर से अलंकार-अलंकार्य के अभेद को स्वीकार कर लेते हैं। दूसरे, इस काल के अन्तर्गत अलंकार-निरूपण के लिए जिन अप्पय दीक्षित का आश्रय व्यापक रूप से ग्रहण किया गया, वे भी भामह, दण्डी, उद्भट आदि के समान अलंकारवादी ही थे, रस, भावादि को अलंकार के रूप में इनके (अप्पय दीक्षित के) द्वारा दण्डी आदि के समान कहा जाना इसका पुष्ट प्रमाण है। रीति-कवियों में से अनेक द्वारा रसवदादि का मनोयोगपूर्ण विवेचन भी यही प्रमाणित करता है कि इन लोगों ने रसवादी होते हुए भी अलंकारवाद का सर्वथा तिरस्कार नहीं किया था। रहा यह कि इन्होंने भामह, दण्डी आदि का आश्रय क्यों नहीं लिया, उसका सम्भवतः यह कारण है कि ध्वनिपूर्व के इन आचार्यों की तुलना में परवर्ती अप्पय दीक्षित का अलंकार-विवेचन अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, सरस, सुबोध एवं सुकण्ठ्य होने के कारण सामान्य पाठक के लिए भाषा के माध्यम से प्रस्तुत किया जाने योग्य तो था ही, इनके लिए भी सहज ग्राह्य था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस "जदपि सुजाति सुलक्षणी"...."दोहे के आधार पर केशवदास को अलंकारवादी घोषित किया जाता है, उसी से प्रभाव ग्रहण कर इस काल के अनेक कवियों ने अलंकारों को "कविता-वनिता" के आभूषण कहा है। फिर "कविप्रिया" को ही दृष्टि में रख कर इस युग के कवियों के ऊपर केशव के प्रभाव को आंकने का प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिए। इस दृष्टि से यदि रीतिकालीन कवियों पर केशव के समग्र प्रभाव का आकलन किया जाय तो कहना होगा कि इनकी "रसिकप्रिया" इन कवियों के लिए भानुदत्त की "रसमंजरी" और "रसतरंगिणी" के समान नायिका भेद, सखी, दूती, हाव, भाव, रस आदि सम्बन्धी विवेचन के लिए व्यापक रूप से आदर्श रही है। इनके समान अनेक लोगों ने शृंगार रस को सभी रसों में श्रेष्ठ माना है—यह बात दूसरी है कि देव आदि कतिपय समर्थ कवियों को छोड़कर शृंगार रस में अन्य रसों का अन्तर्भाव ये लोग नहीं कर सके। इतना ही नहीं, इस काल में "रसिकप्रिया" इतना लोकप्रिय रही कि इस पर अनेक टीकाएँ तो लिखी ही गयी, इसके एक एक छन्द पर चित्रकारों ने चित्र भी बनाए। वास्तव में इस काल का सर्वाधिक लोकप्रिय विषय शृंगाररस और नायिका-भेद विवेचन ही रहा है और उसके निरूपण के क्षेत्र में केशव का व्यापक प्रभाव अतर्क्य है। इनके पाण्डित्य की प्रखरता को किसी ने भी अस्वीकार नहीं किया। अतएव इन सभी तथ्यों को दृष्टि में रखकर यह सहज ही कहा जा सकता है कि केशव ही रीतिकाल की रीति-निरूपण-प्रवृत्ति के प्रवर्तक कहलाने के अधिकारी हैं। (डॉ महेन्द्रकुमार की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल: रीतिकाल" के पृष्ठ 81–82 से साभार उद्धृत)

सीमा निर्धारण :—

भक्तिकाल के अन्तिम वर्षों में ही एक नवीन धारा हिन्दी साहित्य जगत में

प्रवाहित होने लगी। इस नवीन धारा का प्रारम्भ आमतौर पर संवत् 1700 वि. से माना गया है। यह संवत् 10–20 वर्ष पहले भी हो सकता है। भक्तिकाल के अन्तिम चरण में शृंगारिकता का खुलकर निरूपण होने लगा था। कविगण काव्य शास्त्र एवं काव्यांगों की ओर भी ध्यान देने लगे थे और एक प्रकार से यह लगने लगा था कि भक्तिकाल के गर्भ से ही कोई नयी धारा फूट पड़ी है। यह स्वाभाविक भी था क्योंकि कोई भी काव्यधारा न तो अचानक उदित होती है और न अचानक लुप्त ही हो जाती है। जब कोई धारा विशेष चल रही होती है, तब उसी के समानान्तर कुछ काल तक कुछ दूसरी धाराएँ भी प्रवाहित होती रहती हैं। समय पाकर समानान्तर प्रवाहित होने वाली ये धाराएँ ही बड़ी और व्यापक हो जाती हैं और तब एक दिन यह अनुभव किया जाने लगता है कि अब इस धारा का नामकरण भी करना चाहिए और इसके प्रारंभिक वर्षों का निर्धारण भी। यह स्थिति प्रत्येक काल से जुड़ी हुई है।

हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में जहाँ साहित्यिक गतिविधियों का वैविध्य दिखलाई देता है, वहीं परवर्ती भक्तिकाल में पारलौकिकता एवं अध्यात्म समन्वित जातीय भावनाओं की प्रचुरता भी दिखलाई देती है। हाँ, रीतिकाल में इस प्रकार की कोई भावना दिखाई नहीं देती है। यह ठीक है कि रीतिकाल में लौकिक एवं भौतिक भावनाओं की ही प्रधानता रही है, फिर भी यह स्पष्ट है कि इसमें वैयक्तिकता या लोक-तत्वों को कोई प्रश्रय नहीं मिल पाया है। इसके और भले ही कितने ही कारण रहे हों, किन्तु प्रमुख कारण था—राजनीतिक दासता के साथ-साथ पराश्रित रहने की भावना। समय का चक्र निरन्तर घूमता रहता है। यहि कारण है कि रीतिकाल के अवतरण के कुछ वर्ष पहले से ही ऐसे कवियों का वर्ग उभरकर सामने आने लगा था जो राज-दरबारों से जुड़े हुए थे। यही कारण है कि रीतिकाव्य इसी पराश्रित मनोवृत्ति एवं भावनाओं के कारण दरबारी वातावरण में पला, पनपा और वहीं साहित्यिक रश्मियाँ फूटनी गयीं।

रीतिकाल की पृष्ठभूमि में धार्मिकता की भावना प्रमुख रही है। भक्तिकाल बावजूद शृंगारिकता और प्रेम-भावना के धार्मिक चेतना का ही काव्य है। एक स्थिति लम्बे समय तक नहीं चल सकती है और न एक मनोवृत्ति विशेष एक लम्बी अवधि तक अपना प्रभाव जमाये रख सकती है। रीतिकाल का अवतरण इस बात का सूचक है कि भक्तिकाल की धार्मिकता अथवा आध्यात्मिकता यहाँ आकर लौकिक शृंगार में बदल गयी है। यद्यपि सूरदास ने शृंगार का चरम रूप उपस्थित कर दिया था, फिर भी सूर को शृंगारी कवि कहने की अपेक्षा हम भक्त कवि कहना ही अधिक पसन्द करते हैं। इसका कारण यह है कि सूर का काव्य एक धार्मिक बिम्ब उभारता है न कि शृंगारिक भाव-बिम्ब।

जैसाकि ऊपर कहा गया है, रीतिकाल का प्रारम्भ सामान्यतः संवत् 1700 वि. से माना गया है, किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि इसके पहले रीतिकाव्य

की परम्परा के कोई लक्षण नही दिखलाई देते हैं। काव्य की अमुक प्रवृत्ति कब आरम्भ हुई, कैसे प्रारम्भ हुई और किस रूप में सामने आई, इसे जानने का कोई निश्चित मापदण्ड हमारे सामने नहीं होता है। जब कोई भी धारा उभर कर सामने आती है, तब यह मानना चाहिए कि उस धारा विशेष की पंक्तियाँ कुछ वर्ष पहले अवश्य रही होगी। रीतिकाल के सम्बन्ध मे भी यही बात है। जब हम किसी काल की सीमारेखा निर्धारित करते हैं, तब हमारा तात्पर्य यह होता है कि प्रवृत्ति विशेष प्रमुख कब से बनी और उसका सतत् प्रवाह किस सीमा तक दिखलाई देता है। शृंगार-वर्णन तो आदिकाल में भी उपलब्ध है और भक्तिकाल में भी, किन्तु वहाँ शृंगार का स्वरूप और प्रयोजन दोनो ही भिन्न है। रीतियुगीन काव्य में शृंगार का जो स्वरूप है, वह मासल तृप्ति और भोगवाद की सीमाओं को भी पार कर गया है और यह लगता है जैसे भोगवाद का चरम रूप जिस रूप मे इस काव्य में है, वैसा इससे पहले नही रहा।

रीतिकाव्य मे शृंगार का जो स्वरूप है, उसका पूर्वाभास हमे कृष्णभक्त कवियो में दिखलाई देता है। कृष्णभक्ति की ओट मे अनेक कवियों ने नायिका-भेद एवं आलंकारिक रीतियुगीन प्रवृत्तियों का चित्रण भक्तिकाल मे ही प्रारम्भ कर दिया था। केशव से पूर्व भक्तिकाल मे जो काव्यशास्त्रीय ग्रंथ मिलते हैं, वे भी रीतिकाल की भूमिका को ही सामने लाते है। रीतिशास्त्र का विवेचन रीतिकाल मे आकस्मिक घटना नहीं है, इसके लिए भक्तिकाल हमारे सामने एक पृष्ठाधार प्रस्तुत कर देता है। 17वी शताब्दी मे क्रमशः करनेस, रहीम, बलभद्र मिश्र, एव अकबर के दरबारी कवि गंग के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन सभी कवियों ने संस्कृत में उपलब्ध काव्यशास्त्र विषयक रचनाओं को आधार बनाकर नायिका-भेद, अलकार एवं रस आदि काव्यागों का विवेचन किया है। इन्होंने विवेचन तो किया है किन्तु फिर भी इनकी गणना रीतिकाल की सीमारेखा में नहीं की जाती है। ऐसी स्थिति मे यह सहज ही कहा जा सकता है कि रीतिकाल मे जिस रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति को प्रमुखता प्राप्त है, उसका विधिवत एव सम्यक् रूप रीतिकाल से ही देखने को मिलता है, बीज भले ही पहले रहे हों। इसी आधार पर अधिकांश विद्वान और हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखक रीतिकाल की प्रारम्भिक सीमा सवत् 1700 वि. से स्वीकार करते हैं।

रीतिकाल की समयावधि में भक्ति आदि समस्त मान्य प्रवृत्तियाँ पीछे पड़ गयीं थी। अभिप्राय यह है कि संवत् 1700 से 1900 वि. तक की अवधि में भक्ति की धारा, बल्कि कहे कि एक क्षीण धारा, अवश्य दिखलाई देती है, किन्तु प्रफुल्ल धारा के रूप मे शृंगार धारा को ही लिया जा सकता है। रीतिकाल मे भक्ति शृंगार को पुष्ट करने के लिए आई है। शुद्ध शृंगारिकता का पोषण करने

के उद्देश्य से भक्ति कार्यरत रही है। बिहारी, देव, पद्माकर, मतिराम जैसे कवियों के काव्य में भक्ति शृंगारिकता के सांचे में ढली हुई है। इससे यह प्रमाणित होता है कि भक्ति है तो सही, नीति भी है, किंचित धार्मिकता भी है, किन्तु ये सभी भाव शृंगार का पोषण करने के उद्देश्य से ही लाये गये हैं। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है जैसे कवि शृंगार के स्थूल चित्र प्रस्तुत करते-करते यह भी सोचने लगा है कि शृंगार का चरम रूप हो गया, अब थोड़ी देर के लिए भक्ति भाव की रचनाएं भी लिख लेनी चाहिए ताकि किंचित धर्म कमाया जा सके। बिहारी सतसई में भक्ति के दोहे कितने हैं? केवल उतने ही जितने कि एक प्रेमी और शृंगारी कवि के मनस्तोष के लिए आवश्यक होते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल का लगभग दो सौ वर्षों का समय या तो रीति-निरूपण से जुड़ा हुआ है अथवा शृंगार के विविध रूपों से। भक्ति और नीति अथवा कहें कि वीर भावना तो केवल गौण प्रवृत्ति बनकर रह गयी हैं। अतः कालक्रम की दृष्टि से यदि रीतिकाल की सीमा 1700 से 1900 वि. तक फैली हुई है तो विषय-निरूपण अथवा भाव-निरूपण की दृष्टि से वह शृंगारिकता, उसके विविध पक्षों और रीति-निरूपण तक ही सीमित है। यही रीतिकाल की सीमाएँ है।

संदर्भ संकेत

1. मिश्रबन्धु विनोद भाग दो, पृ. 680
2. मिश्रबन्धु विनोद भाग दो, पृ. 682
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 233
4. डॉ. शिवकुमार मिश्र : हिन्दी साहित्यः युग और प्रवृत्तियाँ
5. डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल : रीतिकाल, पृ. 4
6. डॉ. भगीरथ मिश्र : रीतिसाहित्य
7. डॉ. सरनदास भनोत : श्री तिलकराज के हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास में उद्धृत, पृ. 209
8. डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकालः रीतिकाल, पृ. 78–79
9. डॉ. महेन्द्रकुमार : वही, पृ. 80
10. आचार्य रामचन्द्र शुक्लः हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 225

3. रीतिकाल : पृष्ठभूमि एवं उपलब्ध साहित्यिक सामग्री

साहित्य युग का प्रतिबिम्ब होता है। जैसा युग होता है-वैसा ही साहित्य सामने आता है। कोई भी रचनाकार जैसे अपनी विचारधारा को उपेक्षित नही कर सकता, वैसे ही युगीन परिवेश को उपेक्षित करके साहित्य-साधना के मार्ग पर अग्रसर नही हो सकता है। प्राय: देखने मे आता है कि युगीन वातावरण एकपक्षीय न होकर बहुपक्षीय होता है। उसके निर्माण मे अपने समय की राजनीति, समाज-नीति एवं सामाजिक स्थिति के साथ-साथ संस्कृति, साहित्य और कला मूल्यो का विशेष योग रहता है। यही कारण है कि जब हम किसी युग विशेष मे रचित साहित्य का अध्ययन, विश्लेषण और मूल्यांकन करते है तब तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और सास्कृतिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करके ही अपने कार्य मे सफल हो सकते हैं। यह नियम रीतिकाल के ऊपर भी लागू होता है। रीतिकालीन साहित्य के अध्ययन के प्रसंग में इसकी अनिवार्यता इसलिए भी बढ जाती है कि इस साहित्य के निर्माण की दो ढाई सौ वर्ष की दीर्घ अवधि मे भारत के हिन्दी भाषी क्षेत्र की राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक अवस्था मे अनेक उतार-चढाव आये तथा वर्ग विशेष की अभिरुचि द्वारा नियमित होने के कारण साहित्य और कला में विशेष दिशा प्राप्त की।[1]

रीतिकाल की जो स्थितियाँ अथवा परिस्थितियाँ रही है उन्हे हम राज-नैतिक, सामाजिक, सास्कृतिक, कलात्मक और साहित्यिक शीर्षकों मे विभाजित करके देख सकते है। यह सभव नहीं है कि हम रीतिकाल का सही मूल्यांकन भी कर लें और इन परिस्थितियों की उपेक्षा भी कर लें। साहित्य युग का प्रतिबिम्ब होता ही इसलिए है कि उसमे न केवल संस्कृति, समाज और धर्म का रंग होता है, अपितु समूचा युग साहित्य के माध्यम से बोलता नजर आता है। यही कारण है कि रीतिकाल के अध्ययन के लिए पहले इस काल की विविध परिस्थितियो का आकलन-विश्लेषण आवश्यक है।

राजनीतिक अवस्था :

राजनीतिक दृष्टि से रीतिकाल निरंकुश राजतंत्र का काल था। यह वह काल था, जबकि राजनीतिक स्तर पर पर्याप्त उथल-पुथल हो रही थी। अकबर ने सहिष्णुता की नीति से जिस साम्राज्य का निर्माण किया था, वह साम्राज्य शाहजहां के समय तक कलागत उदारता और विलासिता आदि मे चरम सीमा पर पहुँच चुका था। दिल्ली का शासक जगदीश्वर बन गया था अथवा उसे इतना

सम्मान प्राप्त हो गया था कि प्रजा और बड़े-बड़े सामाजिक उसे दिल्लीश्वर के साथ-साथ जगदीश्वर भी कहने लगे थे। जहांगीर ने अपने शासनकाल में राज्य का जो विस्तार किया था, शाहजहाँ ने उसकी वृद्धि इतनी अधिक कि उत्तर भारत के अतिरिक्त दक्षिण में अहमदनगर, बीजापुर और गोलकुण्डा राज्य तक उत्तर-पश्चिम में सिन्ध के लहरी बन्दरगाह से लेकर असम में सिलहट एवं अफगान प्रदेश के बिस्त के किले से लेकर दक्षिण के सीमा तक एक छत्र साम्राज्य की स्थापना हो गयी।

राजपूत लोग भी दिल्ली शासकों के विश्वासपात्र और स्वामिभक्त बनकर उनकी शरण में जाने लगे थे। एक प्रकार से इन्होंने अपनी स्वामिभक्ति का परिचय देने के लिए दिल्ली के शासन और उसके शासकों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उस समय सामान्यतः देश में शांति थी और राजाओं का राजकोष पूरी तरह भरा हुआ था। मुगल शासकों ने जो बड़ी-बड़ी इमारतें बनवाईं, ताजमहल और मयूर-सिंहासन का जो निर्माण कराया, वह तत्कालीन मुगल वैभव को प्रगट कर रहा था। धीरे-धीरे यह वैभव कम होने लगा और सन् 1658 में शाहजहाँ बीमार हो गया। स्थिति यह भी हुई कि उसका देहावसान हो गया। परिणामस्वरूप उसके बेटों में राज्य-प्राप्ति के लिए संघर्ष शुरू हो गया। इस संघर्ष के प्रारम्भ होते ही मुगल शासन का वैभव ह्रासोन्मुख होने लगा। शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह जितना धार्मिक, सहिष्णु और उदार था। उतना ही अलोकप्रिय, असहिष्णु, अहंकारी, छोटा पुत्र औरंगजेब था। अपनी कूटनीतिक चालबाजियों एवं क्रूर व्यवहार के कारण औरंगजेब नित्यप्रति नयी-नयी योजनाएँ बनाता रहता था। ऐसी ही योजनाओं में उसकी एक योजना यह भी रही कि उसने दाराशिकोह की हत्या कर दी और शासन की बागडोर स्वयं संभाल ली। जैसे ही यह घटना घटी वैसे ही जागीरदारों, राजाओं और हिन्दुओं द्वारा धार्मिक उपद्रव प्रारम्भ हो गये। जब एक बार उपद्रव प्रारम्भ हो जाते हैं तब राजा के लिए उन्हें दबाना अथवा उन पर नियंत्रण करना आवश्यक हो जाता है। यही औरंगजेब के साथ भी हुआ।

अपने शासनकाल में औरंगजेब का अधिकांश समय विविध उपद्रवों के दमन में व्यतीत हुआ। इसी कारण वह व्यवस्थित, सुगठित एवं विस्तृत साम्राज्य की स्थापना नहीं कर पाया। अपने अहंकार के कारण वह किसी की बात नहीं सुनता था। अपनी आज्ञा के उल्लंघन को वह शत्रुवत् व्यवहार मानता था और सदैव अपनी मनमानी करने में लगा रहता था। इसी अहम्मन्यता एवं संकीर्ण वृत्ति के कारण औरंगजेब के पुत्र अपने व्यक्तित्व को नहीं बना पाये। उसके किसी भी पुत्र के भीतर किसी अद्भुत प्रतिभा का विकास नहीं हो पाया और इसी से हिन्दुओं में विश्वास नहीं जमाया जा सका। हिन्दू लोग बिखर गये और साम्राज्य भी

बिखरता गया। औरंगजेब के बाद सन 1707 में उसके पुत्रों के बीच सत्ता के लिए संघर्ष हुआ। परिणामस्वरूप औरंगजेब का द्वितीय पुत्र मुअज्जम (शाह-आलम प्रथम) संघर्ष में विजित होकर सिंहासनारूढ़ हुआ। यह अपने पिता औरंगजेब की तुलना में किंचित् उदार था किन्तु तत्कालीन परिवेश में पाँच वर्ष से अधिक शासन की बागडोर नहीं सभाल पाया। इसकी मृत्यु के बाद सन 1712 के बाद मुगल साम्राज्य का पतन शुरू हो गया। यह स्थिति सन् 1759 तक चलती रही और इस बीच विविध संघर्षों अथवा दैवीय प्रकोप के कारण कोई भी बादशाह लम्बे समय तक शासन नहीं कर पाया।

उपर्युक्त परिवेश में स्थिति यह हो गयी कि राजगद्दी के लिए संघर्ष होते रहे, शासक लोग थोड़े-थोड़े समय के लिए शासक बनते रहे और संयोगवश जिन शासकों को कुछ अधिक समय मिला, वे साम्राज्य की ओर ध्यान न देकर अपने विलास में डूबे रहे। इस स्थिति ने अव्यवस्था और अशान्ति को बढ़ावा दिया और साथ ही साथ छोटे-छोटे जागीरदार अपने आपको स्वतंत्र शासक घोषित करने से भी बाज नहीं आये। धीरे-धीरे स्थिति ऐसी हो गयी कि केन्द्र की शक्ति कमजोर पड़ती गयी और साम्राज्य दिल्ली और आगरा के क्षेत्रों में सीमित होकर रह गया। इसी बीच सन् 1738 में नादिरशाह ने आक्रमण किया और इस साम्राज्य की नींव प्रायः हिला दी। जो कुछ शेष रह गया था उसे सन् 1761 में अहमदशाह अब्दाली के आक्रमण ने तहस-नहस कर दिया। मुगल शासन समाप्त सा हो गया अथवा कहें कि कमजोर पड़ गया। इस स्थिति का फायदा अंग्रेजों ने उठाया। उन्होंने अपनी शक्ति को संचित किया और सन् 1803 ई. तक अंग्रेजों ने सम्पूर्ण भारत पर आधिपत्य-सा कर लिया। इस समय मुगल सम्राट नाम मात्र के शासक थे, असली सत्ता अंग्रेजों के हाथ में केन्द्रित हो गयी। सन् 1857 ई में देशव्यापी राज्य-क्रांति हुई और इसमें एक बार पुन. शक्तिहीन हुए तथा विलास में डूबे हुए मुगलों को पुनः सत्ता दिलानी चाही, किन्तु सफलता प्राप्त नहीं हो सकी। ऐसी स्थिति में लगभग ढाई सौ वर्ष के विलास और वैभवपूर्ण साम्राज्य का कारुणिक अवसान हो गया।

केन्द्रीय शासन बिखर गया था और प्रदेशों की स्थिति भी बिखराव की ओर बढ़ रही थी। जहाँ-जहाँ हिन्दी साहित्य लिखा जा रहा था, उन क्षेत्रों में भी स्थिति अच्छी नहीं थी। अवध, राजस्थान और बुन्देलखण्ड में भी स्थिति बदतर थी। राजस्थान में विलास भाव बढ़ता जा रहा था और राजाओं में बहुपत्नी प्रथा इतनी बढ़ गयी थी कि उन्हें अपने महलों से निकलकर समाज और जीवन की ओर देखने की फुर्सत ही नहीं थी। इसके साथ ही राजपूत लोग विविध कुचक्रों षड्यंत्रों और आन्तरिक फूट के शिकार होकर इतने कमजोर हो गये थे कि खोये हुए गौरव को प्राप्त करने की क्षमता भी उनमें शेष नहीं बची थी। हे

समय बुन्देलों ने अवश्य ही मरहठों के साथ लाभ उठाने की कोशिश की, किन्तु राजपूतों के मिथ्या अहंकार एवं आपसी रागद्वेष के कारण वे भी पूरी सफलता प्राप्त करने में अक्षम रहे। इस प्रकार मुगल साम्राज्य की तरह ही हिन्दू रजवाड़ों और अवध के नवाबों को आखिरकार एक दुखद अन्त झेलना पड़ा। जब देश की राजनैतिक स्थिति ऐसी हो तो साहित्य की स्थिति की कल्पना स्वतः ही की जा सकती है।

सामाजिक अवस्था :

राजनीतिक परिस्थितियों का जो स्वरूप था उसका प्रभाव तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था पर भी पड़ा। ठीक भी है, जैसा राजा होता है, शासन का जो स्वरूप होता है, वही समाज का भी हो जाता है। वास्तव में उस समय यथा राजा तथा प्रजा का सच्चा उदाहरण देखने को मिलता है। जाति-पाँति की सभी प्राचीन रूढ़ियां टूटने लगी और उनका स्थान नवीन रूढ़ियों ने लेना प्रारम्भ कर दिया। कार्यों के आधार पर जातियों का निर्माण होने लगा। हिन्दुओं और मुसलमानों में सामाजिक मेलजोल की भावना समाप्त सी ही थी और उसमें परस्पर असहयोग की भावना बराबर कार्य करती रही।

मुगल-साम्राज्य के ऐश्वर्य एव वैभव ने विलासिता की भावना में वृद्धि कर दी थी। शाहजहाँ की वैभवप्रियता, विलासप्रियता और प्रदर्शन-प्रवृत्ति ने तत्कालीन सामाजिक जीवन पर अपना पर्याप्त प्रभाव डाला। इससे शौर्य एवं पराक्रम का ही ह्रास नहीं हुआ, अपितु मनोबल की कमी ने समाज के बौद्धिक स्तर को ही नीचा कर दिया। छोटे से छोटे सामन्तों के पास भी अनेक रखेलें होने लगी। नारी को केवल विलास और मनोरंजन की सम्पूर्ति समझा जाने लगा। सामन्तीय जीवन मे विकृतियां भर गयी और जीवन के संघर्ष से सामन्तों का संसर्ग ही छूट गया। नियंत्रणहीन यौनसम्बन्ध, मद्यपान तथा द्यूतक्रीड़ा ही सामन्त-जीवन का अंग बन गये।

जनता में अंधविश्वास और प्राचीन रूढ़ियों के प्रति अगाध श्रद्धा थी। ज्योतिष, शकुन एवं पोंगापण्डितों में उनका विश्वास था। जनता में भी विलास की भावना इस कदर भर गयी थी कि भक्तिभावना उन्हें स्पर्श ही नहीं कर पाती थी। बालविवाह एवं बहुविवाह की प्रथाओं का प्रचलन अत्यधिक था। जनता प्रायः अशिक्षित थी, इससे उसमें नागरिकता का पूर्ण अभाव था। श्रमिकों को अत्याचार से पीड़ित कर दिया गया था। जनता ने "कोउ नृप होउ हमें का हानी" वाली प्रवृत्ति अपना ली थी। जनसाधारण से सामन्तों, जागीरदारों तथा सूबेदारों का तनिक भी सम्बन्ध नहीं था। वे विलास के उपकरण जुटाने में ही इतने लीन रहते कि जनता के साथ साक्षात्कार का समय ही उन्हें नहीं मिल पाता था। कुल

मिलाकर सभ्यता और संस्कृति के विनाश के साथ-साथ उस युग में महान आर्थिक संकट भी था। इसका कारण यही था कि राजा और अमीर उमरा के महल रूप-बाजार बन गये थे। राजे और शहजादे तहखानों और खसखानों में असूर्यम्पश्याओं को सिरहाने लिये रहते थे। अर्द्धनग्न युवतियों और हिजड़ों के बीच ही घिरे रहना, तीतर-बटेर लड़ाया-भिड़ाया करना आदि इनके काम थे। डॉ. नगेन्द्र के शब्दों मे—"मुगल अन्तःपुर का वैभव इन्द्रभवन को मात करता था।"[2] षड्ऋतु-वर्णन, दरबारो की सजावट के बयान आदि से यह स्पष्ट होता है कि उस समय की बैठकें और दरबार आज के "एयरकंडीशन्स चैम्बर्स" को भी मात करते थे। ऐसे दरबारों मे कवियो का कार्य विलासिता उभारना ही रह गया था। आचार्य शुक्ल के शब्दों में, "इन दरबारों मे एक प्रकार के कविराज रईसों के मुँह में मकरध्वजरस झोंकते थे, दूसरे प्रकार के कविराज मकरध्वज (कामदेव) रस की पिचकारी देते थे।"[3] मध्यवर्ग की भी स्थिति लगभग ऐसी ही हो रही थी। रईसो का अनुकरण वे भी कर रहे थे। वे अपनी छोटी-सी गृहस्थी को भी ऐसे ही साधनो से भरना चाह रहे थे। वे राजभवन की सुन्दरियो और सभा की वैश्याओं को अपने घरों मे भरना चाहते थे। अस्तु, इस वर्ग की नारियो की स्थिति भी बाह्य प्रदर्शन की ओर ही हो गयी थी। श्री एस. के. बनर्जी ने "ल्योर्स ऑव इण्डिया मे लिखा है—"She has to be attrective to her husband as any mistress would be, yet her faithfulness to the Lord should neverbe questioned. She had to be proficient in all the sixtyfour erotic arts."

समाज के निम्नवर्ग मे अपेक्षाकृत नैतिकता बची हुई थी, पर, आर्थिक दृष्टि मे इनकी अवस्था बुरी थी। ये दुहरे शासन के शिकार थे। हाँ, इनकी आस्था सूर, तुलसी आदि की रचनाओं में थी और ये धार्मिक काव्य मे ही रुचि रखते थे, विलासकाव्य मे नही।

धार्मिक अवस्था :

सामाजिक और राजनैतिक स्थितियो की तरह ही धार्मिक दृष्टि से भी यह काल पतनोन्मुख काल था। समाज के भीतर धर्म का जो स्थान है अथवा कहे कि धर्म का सहारा लेकर समाज को जिस रूप मे चलना चाहिए, उस रूप मे समाज नही चल पा रहा था। सर्वत्र एक अराजकता, अव्यवस्था, ढोग और पाखण्ड का प्राबल्य बढ़ता जा रहा था। परिणामस्वरूप अब तक जो हिन्दू और मुसलमान अपने को एक समझते थे, वे अब अपने आपको स्वतंत्र और एक दूसरे से अलग समझने लगे थे। अकबर ने अपनी मानवतावादी दृष्टि के आधार पर हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जो सामंजस्य एवं सौमनस्य बनाया था, वह समाप्त होता जा रहा था। हिन्दू अपने ईश्वर को मुसलमानों के खुदा मे बेहतर मानते थे और

मुसलमान अपने धर्म को इतना अधिक महत्व देते थे कि उन्हें हिन्दुओं के धार्मिक अनुष्ठान आदि के तौर-तरीके बुरे एवं अप्रिय लगने लगे थे। अकबर, जहाँगीर और शाहजहाँ की उदारतावादी नीति तथा संतों और सूफियों के उपदेशों के परिणाम-स्वरूप हिन्दू व इस्लामी संस्कृतियों के निकट आने का जो क्रम चला था, वह औरंगजेब की कट्टरता के कारण समाप्त प्रायः हो गया था। वैभव और विलास का खुला प्रदर्शन होने लगा था और यही कारण है कि कोई भी अपनी धार्मिक आस्थाओं को दृढ़तापूर्वक व ईमानदारी से नहीं निभा पा रहा था। जहाँ-जहाँ और जो-जो हिन्दी भाषी क्षेत्र थे, उनमें वैष्णव सम्प्रदायों का प्रभाव था किन्तु उनके पीठाधीश लोभ, लालच और विलास में पड़कर जीवन यापन करने लगे थे। बड़े-बड़े भक्तों, ज्ञानियों और पीठाधीशों का व्यक्तित्व विकृत होने लगा था और वे तत्व-चिन्तन की अपेक्षा भौतिकता से जुड़े हुए चिन्तन को महत्व देने लगे थे।

इतना ही नहीं, मन्दिरों में जब विलास-लीलाएँ होने लगी थीं और हिन्दू भी अपने आराध्य राम और कृष्ण को शृंगार-लीलाओं से जोड़कर बल्कि कहें कि काम-क्रीडाओं से जोड़कर प्रस्तुत करने में गौरव का अनुभव करने लगे थे! शृंगार-काल में बौद्धिकता का ह्रास हो गया था और कोई भी उदात्त भावना उदित नहीं हो पा रही थी। ऐसा लगने लगा था कि धार्मिक दृष्टि से भक्ति के पराभव का समय आ गया है। विलासता के साथ ही अन्धविश्वासों, रूढ़ियों और बाह्याडम्बरों ने धर्म के स्थान पर अपना आसन जमा लिया था। पण्डितों और मुल्लाओं के कथन वेदवाक्य और कुरान माने जाने लगे थे। वस्तुतः भक्तिकाल में भक्ति की जो व्यापक और तीव्र लहर तरंगायित हुई थी, वह इस काल में आकर न केवल शांत हो गयी, अपितु विविध विकृतियों से जुड़कर कलुषित भी हो गयी थी। सूरदास द्वारा प्रतिपादित राधा और कृष्ण की सूक्ष्म उपासना के स्थान पर स्थूल उपासना का महत्व बढ़ गया था। पवित्रता और भक्ति का स्थान लोलुपता और कामुकता ने ले लिया था। कृष्ण भक्तों में जो धार्मिक भावना थी, जो पवित्रता और उदात्तता थी, उसे इस काल के कवि न तो समझ पाये और न समझा पाये। "आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई, न तु राधिका कन्हाई सुमिरन को बहानो है" की ओट में कामुकता का अबाध वर्णन किया जाने लगा था। मन्दिरों और मठों के पुजारियों और महन्तों के हृदय में दिव्य प्रेम के स्थान पर वासना भर उठी थी। चैतन्य और वल्लभ सम्प्रदाय की गद्दियां भी सस्ती कामुकता और रसिकता से गन्दी होने लगी थी। रामभक्ति के विभिन्न सम्प्रदायों की भी यही स्थिति थी। स्वसुखी और तत्सुखी सम्प्रदायों ने शक्ति, शील और सौन्दर्य के प्रतीक राम को भी छैल-छबीला बनाकर प्रस्तुत करने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था। आदर्श की प्रतिमूर्ति सीता जैसी नारी भी विलासप्रिय सामान्य रमणी के रूप में चित्रित की जाने लगी थी।

रसिक सम्प्रदाय में रामभक्ति के अन्तर्गत पोथी का स्थान शृंगारी भावनाओं ने ले लिया था।

वस्तुतः इस काल के परिवेश को देखते हुए यह कहना उचित ही है कि व्यवस्था अव्यवस्था में परिवर्तित हो गयी थी, जनता में अन्धविश्वास बढ़ गया था और उसके अन्धविश्वासों का अनुचित लाभ उठाने का कार्य पुजारी और पण्डे करने लगे थे। इस संदर्भ में डॉ. महेन्द्रकुमार का यह मत उद्धरणीय प्रतीत होता है—"इस युग में पुरानी परम्परा के सूफी तथा सन्त अब भी विद्यमान थे, पर किसी में भी कबीर, नानक अथवा जायसी जैसा व्यक्तित्व और प्रतिभा नहीं थी, जो जनजीवन को प्रभावित कर सकती। ये लोग पूर्ववर्ती कवियों की वाणी के मात्र प्रचारक थे और प्रचारकों का जैसा प्रभाव पड़ सकता है, वैसा ही इनका पड़ रहा था—कोई क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में ये असमर्थ थे। उधर राम-लीलाओं तथा "रामचरितमानस" के पाठ का प्रभाव मनोविनोद तक ही सीमित रह गया था—इनके द्वारा नैतिक प्रभाव की कल्पना असम्भव थी।"[4]

डॉ. ताराचन्द ने लिखा है कि, "मन्दिरों में बसने वाले भगवान के विलास को देखकर तो अवध के नवाब तक को उनसे ईर्ष्या हो सकती थी, या कुतुबशाह भी अन्तःपुर में उनका अनुकरण करना गर्व की बात समझ सकते थे।"[5] भगवान की आराधना के मात्र उतने ही रूप चुने गये थे, जिनसे लोगों की रसिकता को बढावा मिल सकता था। उस समय ठाकुरजी को "कोककला", "रतिरहस्य" की शिक्षा के लिए कामशास्त्रीय ग्रन्थों के प्रणयन भी होने लगे थे। मन्दिरों के महन्त भगवान के प्रतिनिधि होने के नाम पर विलास में रत थे। इस सम्बन्ध में सन् 1820 ई. में लिखे गये एक अंगरेज यात्री कप्तान मैकवुड[6] की ये पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं जिनमें लिखा गया है—"*The Maharaj* is the master of their property and Disposes of it as he *pleases;* and such is the veneration in which he is held that the most *respectful families* consider themselves honoured by cohabiting with their *wives* and daughters."

निम्नवर्ग अपेक्षाकृत अधिक अशिक्षित और अन्धविश्वासी था। उसमें धर्म के बाहरी और आडम्बरी रूप—व्रत-उपवास, तीर्थाटन आदि ही प्रचलित थे। वह पण्डे-पुजारियों और सन्तों-महन्तों की अवहेलना नहीं कर सकता था। डॉ. यदुनाथ सरकार के शब्दों में—"हिन्दुओं का विश्वास यहाँ तक बढ़ गया था कि वे प्रत्येक विशालबाहु व्यक्ति को हनुमान का अवतार समझकर पूजना शुरू कर देते थे।"[7] फिर भी यह वर्ग भ्रष्ट नहीं था। इसे भ्रष्ट किया अवश्य जा रहा था।

इन्हीं के कारण तो दरबारों में जहाँ "इन्दर सभा" पनपती है, वहां ऐसे लोगों की झोपड़ियां "रामलीला" और "रासलीला" का विकास करती हैं।

साहित्यिक परिवेश :

उपर्युक्त विविध परिस्थितियों के साथ-साथ साहित्यिक परिस्थिति भी उल्लेखनीय है। साहित्यिक परिवेश सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक परिस्थितियों से प्रभावित होकर ही सामने आने लगा था। हाँ, इतना अवश्य है कि साहित्यिक दृष्टि से तत्कालीन परिवेश विशिष्ट कहा जा सकता है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि इस काल के कवि और कलाकार भले ही साधारण वर्ग से जुड़े रहे हों, वे अपने आश्रयदाता मुगल सम्राटों से विशेष सम्मान प्राप्त करते थे। इन कवि-कलाकारों को न केवल सम्मान मिलता था, अपितु राजदरबारों में उनकी गणना प्रतिष्ठित लोगों के साथ होती थी। यदि कलाकार को अपेक्षित सम्मान मिले तो वह अपने सृजन-व्यापार में पर्याप्त सफलता प्राप्त कर लेता है। यही कारण है कि उस समय कवि और कलाकार अपनी-अपनी कलाओं का प्रभावी रूप प्रस्तुत करने में सक्षम हुए हैं। गुण और परिमाण दोनों ही दृष्टियों से कवि-कलाकारों ने अपनी प्रतिभा का विकास भी किया और उसका प्रदर्शन भी।

कवि-कलाकारों को सम्मान भले ही मिलता रहा हो, किन्तु इस बात में वे दुर्भाग्यशाली ही थे कि उन्हें लेखन के विषय में वह स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी, जो सृजन की अनिवार्य शर्त है। ये लोग अपनी चाहत और मनोवृत्ति के अनुकूल स्वतन्त्र रूप से न तो कुछ भी लिख पाते थे और न लिखने की सोच ही पाते थे। कारण यह था इन्हें सामान्यतः अपने आश्रयदाताओं की रुचि का ध्यान रखना पड़ता था, उनके मनोनुकूल रचनाएँ प्रस्तुत करनी पड़ती थीं और इस कारण अपनी प्रतिभा का सही और उत्तमोत्तम रूप प्रस्तुत नहीं कर पाते थे। इतने पर भी इस काल में रचित साहित्य का महत्त्व अविस्मरणीय है। बिहारी सतसई उस परिवेश की विशेषकर साहित्यिक और सामाजिक परिवेश की सही झलक प्रस्तुत करती है। सतसई के माध्यम से तत्कालीन समाज की निष्क्रियता और स्वतंत्र चेतनाहीनता स्पष्ट हो जाती है। लगता ही नहीं कि उस समय के कवि के सामने कोई प्रश्न और समस्याएँ भी थीं। बिहारी जैसा कवि अपनी अत्यधिक रसिकता को दोहों के माध्यम से जिस कलात्मकता के साथ प्रस्तुत कर गया है, वह एक ओर तो उनकी प्रतिभा का प्रमाण है और दूसरी ओर तत्कालीन परिवेश का भी बिम्ब है। एक समीक्षक के शब्द हैं :

"बिहारी ने अपने दोहों के माध्यम से समाज पर ऐसा जादू किया कि वह आज तक भी हल्का नहीं पड़ा है। फिर रसिकता दोष नहीं दोष तो रसिकता का आरोपण और नकलीपन है जो निस्तेज न हो और इसलिए उन्होंने अनुभूति और ज्ञान की तलाश को कहीं-कहीं नजरन्दाज करके भी ऐसे बिम्ब उतारे हैं जो एक

साथ ही मांसल, स्पष्ट, संवेद्य और आक्रामक हैं। कितने ही दोहों में आक्रामकता और आमन्त्रण का भाव इतना सघन और ठोस है कि उसके सामने अपने को सँभाले रखना और उसके प्रभाव से नाही करना किसी भी सहृदय के वश की बात नहीं। ऐसी स्थिति में बिहारी की कविता के भाव शून्य और प्रामाणिक अनुभूतिहीन होने का सवाल ही कहाँ उठता है ? उन्होंने जब-जब शीशे-जड़े महलों की दीवारों के बाहर खुली छत पर आकर अनुभूति को शब्दों के चौखटों में जड़ा है तब-तब उन्हें न तो श्लेष और यमक की मीनाकारी की जरूरत पड़ी है और न भाषा का स्वास्थ्य ही विकृत हुआ है।"[8]

फारसी राजकीय भाषा, इसकी अलंकार प्रधान शैली का प्रभाव इस युग की भाषाओं पर पड़ता जा रहा था। ब्रजभाषा जनजीवन के निकट आ गयी थी फिर भी फारसी के प्रभाव से बच नहीं पा रही थी। इस युग के राज्याश्रित कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की जो प्रशस्तियाँ की हैं, वे अलंकार प्रधान एवं अतिरंजित शैली में की गयी हैं। इस शैली का प्रभाव वहाँ स्पष्टतः देखा जा सकता है जहाँ इस काल के दरबारी कवि अपने आश्रयदाताओं की वासनाओं को गुदगुदाने के लिए शृंगारमयी रचनाएँ प्रस्तुत करते रहे हैं। इतना ही नहीं, इस काल के कवियों ने ब्रजभाषा में लिखने के साथ-साथ अपने मन को रीतिनिरूपण की ओर उन्मुख कर लिया था। रीति-निरूपण की शैली में ग्रंथों की रचना की जाने लगी थी। ऐसी रचनाओं के प्रस्तुतीकरण के मूल में दो ही उद्देश्य थे—एक तो यह कि कवि लोग अपने सामर्थ्य का प्रदर्शन कर लेते थे और दूसरे युग के काव्य-रसिक समुदाय को विविध स्थितियों से परिचित कर देते थे। इसलिए किया जाता था कि काव्य-गोष्ठियों में शास्त्रीय सौंदर्य के उपकरणों के आधार पर कविताओं की दाद दी जा सके।

कहने की आवश्यकता नहीं कि "इस परम्परा के साहित्य की रचना शाहजहाँ के शासनकाल से लेकर आगामी दो ढाई सौ वर्ष तक अविकल रूप से होती रही। औरंगजेब के रूक्ष स्वभाव के कारण यद्यपि मुगल दरबार से कवियों का सम्बन्ध कट गया था, किन्तु इसका प्रभाव इसलिए विशेष रूप से न पड़ सका क्योंकि राजा और नवाब उन्हें आश्रय देते ही रहे। इधर जनसमुदाय में ऐसे कवि भी विद्यमान थे जो स्वतन्त्र रूप से काव्य की रचना कर रहे थे। चूंकि वे राजकीय वातावरण से सर्वथा मुक्त और सृजन-व्यापार में स्वतन्त्र थे अतएव उनकी रचनाएँ काव्य शास्त्रीय उपकरणों के इस अनिवार्य समावेश से सर्वथा अछूती रहीं। यही कारण है कि इनका काव्य उक्त कवियों के काव्य की तुलना में अधिक प्रभावी रहा है। कुल मिलाकर इस काल में राज्याश्रित कवियों और जनकवियों द्वारा रचित साहित्य गुण और परिमाण, दोनों की दृष्टि से इतना विशद है कि हिन्दी भाषा उस पर सहज ही गर्व कर सकती है।"[9]

शृंगारकाल का साहित्य राजाश्रय में ही निर्मित हुआ। उस समय का साहित्यकार एक ओर कवि का बाना धारण किये हुए था और दूसरी ओर आचार्य

का। प्रमुखतः ये कवि शृंगारी भावनाओं को व्यक्त करने के लिए व्रजभाषा का ही प्रयोग करते थे, किन्तु यत्र-तत्र विभिन्न भाषाओं का प्रयोग भी किया जाता था। इस काल की भाषा के विषय मे आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन है— "वस्तुतः शृंगारकाल के साहित्य का सृजन अवध प्रान्त और राजस्थान मे अधिक हुआ, इसलिए इसकी भाषा मे अवधी एवं बुन्देलखण्डी और राजस्थानी के प्रयोग मिलते हैं।"10

कलात्मक परिवेश :

इस समय विविध कलाओं का विकास भी प्रचुर मात्रा में हुआ। इतना अवश्य है कि कला का विकास एक बँधी-बँधाई परिपाटी पर ही हो रहा था। सर्वत्र मीनाकारी, पच्चीकारी और प्रदर्शन की प्रधानता दिखलाई देती थी। यह वह समय था जब व्यक्ति-चित्रों की प्रतिकृतियाँ तैयार की जा रही थी, सर्वत्र खण्ड चित्र प्रधान हो गये थे। चित्रकला, संगीतकला का विकास, विलास और वैभव को बढ़ावा देने मे अपनी विशिष्ट भूमिका निभा रहा था, मुगलकाला यों भी इतिहास मे प्रसिद्ध है, अतः उसे उस समय विकसित होने और चरमोत्कर्ष को प्राप्त करने का अवसर सहज ही प्राप्त हो गया था। कहा जाता है कि मुगलो का शासन विश्व-इतिहास का एक रगीन पृष्ठ है जिसमें ऐसे शासको की परम्परा मिलती है जो न केवल काव्य-रसिक है, नारी-रसिक है अपितु कला-रसिक भी हैं। आलीशान इमारतें मकबरे, किले और मस्जिद आदि इस युग की भव्य कला को प्रदर्शित करते हैं। इस युग की चित्रकला और वास्तुकला की नक्काशी शृंगार युग की कविता के सूक्ष्मतर विवरणो मे जाने की रुचि को सहज ही प्रगट कर देती है। इस समय की कला के विषय मे ठीक ही कहा गया है कि "They built like giants and finished like Jewellers."

कलात्मक अभिरुचि इस युग की विशेषता रही है फिर भी यह अवश्य लक्षित होता है कि इस समय की कला मे स्वाभाविकता और सजीवता इसलिए कुछ कम है कि प्रदर्शन की भावना हावी हो गयी है। शाहजहाँ की अलकार-प्रियता बहुत बढी-चढी थी। उसको इस अलकारप्रियता को विविध राजकीय क्रिया-कलापों, राजकीय ठाट-बाट मे देखा जा सकता है। यह स्पष्ट लक्षित होता है कि रंगों मे सुनहरी पानी चढाने का बडा रिवाज था। यही कारण है कि जो चित्र प्रस्तुत किए गए है, वे मूर्तिवत् और जड़ प्रतीत होते हैं। सजीवता वहाँ नही है। औरगजेब के पश्चात् परवर्ती मुगल शासको के संरक्षण मे जिस चित्र शैली का विकास हुआ, वह शाहजहाँ के समय की शैली का ही अनुकरण मात्र है। हाँ, यह बात तो थी कि मुगल दरबारो और अवध के नवाबों के आश्रय मे चित्रकला को हिन्दू रजवाड़ों-विशेषतः राजस्थान और परवर्ती क्षेत्रों में चित्रकला का विकास

मुगलों की शैली से किंचित् भिन्न भूमिका पर आया था। राजपूत चित्रकला हिन्दू शैली ही है और लोक-जीवन के पर्याप्त निकट है। राजस्थानी शैली के चित्रों का प्रमुख विषय रागमाला था।

डॉ. महेन्द्रकुमार ने लिखा है कि, "इनमें ऋतुओं का आश्रय लेकर शब्दों को रेखाओं और रंगों में बद्ध किया गया है। इसके अतिरिक्त इस शैली के चित्रों का विषय कृष्ण-लीला, नायिका-भेद और बारहमासा भी रहा है। इस युग के अनेक कवियों की रचनाओं में भी इसी प्रकार के चित्र व्यंजित हुए है। कांगड़ा शैली के चित्रों का विषय महाभारत, श्रीमद्भागवत, दुर्गासप्तशती, पुराण, इतिहास, लोक-कथाओं आदि के अतिरिक्त दैनिक जीवन में से सम्बद्ध बातें रही हैं। इन चित्रों में भावात्मकता अधिक है तथा सामान्य रूप से इनका झुकाव रहस्यात्मकता की ओर है। संक्षेप में, इस युग की चित्रकला राजसी ठाटबाट तथा जन-जीवन – दोनों को सम्यक् रूप से लेकर चली है। इस युग के कवियों द्वारा रचित राजप्रशस्तियाँ तथा शृंगारिक रचनाएँ क्रमशः इन दोनों प्रवृत्तियों के चित्रों के समानान्तर कही जा सकती है।"[11]

काव्य और चित्रकला के अतिरिक्त इस युग में स्थापत्यकला और संगीत-कला को भी विशेष महत्व प्राप्त हुआ। हाँ, इतना अवश्य है कि ये दोनों कलाएँ काफी खर्चीली और अभ्यास-साध्य है, अतः राजाओं के दरबार तक ही सीमित होकर रह गयी। स्थापत्य और संगीत की बारीकियाँ जन-जीवन में प्रवेश नहीं कर पाईं। अकबर के समय से इन दोनों कलाओं को समान महत्व प्राप्त था, किन्तु शाहजहाँ के समय में संगीत का प्रभाव अपेक्षाकृत कम हो गया। यह तो कहा जाता है कि शाहजहाँ संगीत का प्रेमी था फिर भी उसकी रुचि स्थापत्यकला में अधिक थी। यही कारण है कि स्थापत्यकला उसके समय में चरमोत्कर्ष पर पहुँच गयी थी। शाहजहाँ ने जितनी इमारतें बनवायीं उन सभी में सूक्ष्म सौंदर्य और कलात्मक बारीकियाँ देखने को मिलती हैं। आगरे का ताजमहल और दिल्ली का दीवाने खास इसके जीवन्त उदाहरण है। औरंगजेब के समय में कलाओं की स्थिति हल्की पड़ गयी थी और औरंगजेब के बाद तो कलाओं की स्थिति शोचनीय सी हो गयी। स्थापत्यकला को इसलिए अधिक महत्व नहीं मिल पाया कि औरंग-जेब ने मन्दिरों को तुड़वा दिया था और उन्हें मस्जिदों में बदल दिया था। फिर वह इमारतों के निर्माण पर बहुत अधिक खर्च करने का पक्षपाती भी नहीं था।

मोहम्मदशाह ने संगीतकला को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया और शाह-आलम द्वितीय एवं उसके बाद के शासकों ने स्थापत्यकला में किंचित रुचि दिख-लाई किन्तु मौलिकता का अभाव रहा। इस काल में हिन्दू राजाओं के आश्रय में भी कला को प्रश्रय मिला। जयपुर में सवाई जयसिंह के राजमहल, डीग में सूरज-मल के महल तथा संग्रामसिंह, सरजमल और छत्रसाल आदि की छतरियों को

देखकर इस काल के हिन्दू राजाओं की स्थापत्य कला सम्बन्धी रुचि एवं योगदान को अनुमानित किया जा सकता है। संगीतकला के क्षेत्र में राजस्थान और ग्वालियर का योगदान विशिष्ट रहा है।

उपर्युक्त परिवेश में रीति काव्य का सृजन हुआ है। यह वह काव्य है जिसमें उस समय का सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, कलात्मक एवं साहित्यिक स्वरूप किसी न किसी रूप में अवश्य अभिव्यक्त हुआ है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि यह युग वैभव-विलास और कलात्मक प्रदर्शन का युग था। यही प्रदर्शनी वृत्ति समूचे रीतिकालीन काव्य में देखी जा सकती है।

रीतिकालीन साहित्यिक सामग्री—

जिस प्रकार प्राचीन भारतीय साहित्य के अन्तर्गत अनमोल ग्रन्थ रत्न हैं और वे समुचित सुरक्षा व्यवस्था के अभाव में आज उपलब्ध नहीं हैं वैसे ही रीतिकालीन साहित्य भी उचित देख-रेख के अभाव में प्रायः लुप्त हो गया है। यद्यपि रीतिकालीन ग्रन्थ अपेक्षाकृत कम पुराने है फिर भी उनमें से अधिकतर या तो नष्ट हो गये हैं या फिर कहीं दबे पड़े है। लगभग ढाई सौ वर्ष की लम्बी अवधि में विविध और असंख्य ग्रन्थ लिखे गये होंगे, किन्तु आज उनमें से कितने और कहाँ उपलब्ध हैं, यह बतलाना कठिन भी है और असम्भव भी। रीतिकाल में लिखित साहित्य आज जिन स्रोतों से उपलब्ध होता है, वे प्रमुख रूप से तीन माने जा सकते हैं—इनमें प्रथम देश के विभिन्न पुस्तकालय हैं। इन पुस्तकालयों में अनेक हस्तलिखित ग्रन्थ सुरक्षित हैं। ऐसे पुस्तकालयों में प्रमुख हैं—काशी की नागरी प्रचारिणी सभा का आर्य भाषा पुस्तकालय, रामनगर (वाराणसी) स्थित काशी नरेश का पुस्तकालय, पटियाला स्थित नेशनल आर्काइव्स का पुस्तकालय बरोड़ा-स्थित गायकवाड ओरियन्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, सायाजीराव विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग का पुस्तक संग्रह एवं राजस्थान में जयपुर, जोधपुर, बीकानेर और उदयपुर तथा मध्यप्रदेश में दतिया टीकमगढ़, बिजावर, छतरपुर और रीवाँ के महाराजाओं के व्यक्तिगत पुस्तकालय।

रीतिकालीन साहित्य जहाँ उपलब्ध हैं, उनका दूसरा स्रोत वे लोग हैं जिन्होंने अनेक हस्तलिखित एवं प्रकाशित ग्रन्थ अपने पास एकत्रित कर रखे हैं। ऐसे लोगों की एक सूची डॉ. नगेन्द्र के इतिहास में दी हुई है। वहाँ कहा गया है कि ऐसे लोगों में स्वर्गीय ठाकुर शिवसिंह सेंगर (काँथा जिला उन्नाव), श्री गोविन्द चतुर्वेदी (मथुरा), श्री जवाहरलाल चतुर्वेदी (मथुरा), कैप्टेन शूरवीर सिंह (भू. पू. जिलाधिकारी, अलीगढ़), स्वर्गीय डॉ. भवानीशंकर याज्ञिक आदि के वैयक्तिक संग्रहों का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। तीसरे स्रोत में पुरानी और नयी प्रकाशन संस्थाओं का नामोल्लेख किया जा सकता है। प्राचीन प्रकाशन-संस्थाओं में

श्री वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई; भारत जीवन प्रेस, काशी; नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ; इंडियनप्रेस, इलाहाबाद; नागरी प्रचारणी सभा, काशी तथा गंगा ग्रन्थागार, लखनऊ का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है—नागरी प्रचारिणी सभा आज भी इस दिशा मे विशेष सक्रिय है। नवीन संस्थाओं में विभिन्न नगरों में अवस्थित व्यावसायिक एवं शोध-संस्थान हैं, जिन्होने कतिपय ग्रन्थावलियों एवं स्वतन्त्र ग्रन्थ प्रकाशित कराये हैं अथवा कराने की योजना है। रूपविधा के अनुसार रीतिकालीन साहित्य तीन वर्गों मे रखा गया है। पहले वर्ग मे मुक्तक रचनाएँ आती है। दूसरे वर्ग मे प्रबन्ध काव्यों को लिया जा सकता है और तीसरे वर्ग मे नाटकों को स्थान प्राप्त हैं। मुक्तक वर्ग मे जो रचनाएँ आती है उनमें काव्यांशों का निरूपण है अथवा उनका लेखन काव्यशास्त्र के नियमों को ध्यान में रखकर किया गया है। प्रबन्ध काव्य के रूप मे रचित रचनाएँ या तो किसी प्रसिद्ध या काल्पनिक कथा को लेकर लिखी गयी हैं या उनमे किसी घटना, प्रसंग अथवा चरित्र को कथात्मक शैली में लिखा गया है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि रीतिकालीन प्रबन्ध काव्य संख्या मे काफी कम हैं। जहाँ तक नाटकों का प्रश्न है, वे तो संख्या में और भी कम हैं। इस काल मे प्रायः संस्कृत के प्रसिद्ध नाटकों के पद्यबद्ध *अनुवाद मिलते हैं। डॉ. नगेन्द्र ने उपर्युक्त साहित्य के अन्तर्गत आने वाले प्रसिद्ध* कवियों और उनकी रचनाओं का उल्लेख किया है। हम यहाँ उनके द्वारा दी गई सूची को अविकल रूप से प्रस्तुत कर रहे हैं—

1. मुक्तक काव्य

1–चिन्तामणि : कविकुलकल्पतरु, रसविलास, काव्यविवेक, शृंगारमंजरी, काव्य-प्रकाश छन्द-विचार।

2–मतिराम : रसराज, ललितललाम, सतसई, अलंकारपचाशिका, वृत-कौमुदी।

3–भूषण : (i) शिवराजभूषण, शिवाबावनी, छत्रसालदशक।
(ii) अलंकारप्रकाश, छन्दोहृदयप्रकाश।

4–बिहारी : सतसई।

5–गोविन्दसिंह : सुनीत प्रकाश, सर्वलोह प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर।

6–तोष : सुधानिधि, नखशिख, विनय शतक।

7–रसनिधि : रतनहजारा, विष्णुपदकीर्तन, कवित्त, बारहमासी, गीतिसंग्रह, अरिल्ल, हिन्डोला, सतसई।

8–जसवन्तसिंह : अपरोक्ष सिद्धान्त, अनुभव प्रकाश, आनन्दविलास, सिद्धान्तबोध, सिद्धान्तसार, भाषाभूषण, स्फुट छन्द।

9–कुलपति मिश्र : रसरहस्य, नखशिख, युक्त तरंगिणी, दुर्गाभक्तितरंगणी (चन्द्रिका)।

10–मण्डन : रसरत्नावली, रामविलास, नखशिख, काव्यरत्न, नैनपचासा,
जनकपचीसी ।
11–ग्रालम : ग्रालम केलि ।
12–वृन्द : सतसई ।
13–पदुमनदास : काव्य मन्जरी ।
14–करनकवि : साहित्यरस, रसकल्लोल ।
15–कालिदासत्रिवेदी : कालिदास हजारा, बारवधू विनोद, जंजीराबन्द,
राधामधव, बुधमिलनविनोद ।
16–लालकवि : विष्णु विलास ।
17–माखन : श्री नागपिंगल छन्दविलास ।
18–कुमारमणि : रसिक रसाल, रसिक रंजन ।
19–देव : भावविलास, भवानी विलास, कुशलविलास, प्रेमचन्द्रिका,
जातिविलास, रस विलास, सुजान विनोद, प्रेमतरंग, देव
चरित्र, काव्यरसायन, सुखसागर तरंग, देव शतक, प्रेम-
दीपिका, सुमिल विनोद, राधिका विलास, नीति शतक ।
20–सूरतिमिश्र : ग्रलंकारमाला, रसरत्नमाला, सरस रस, रस ग्राहक-
चन्द्रिका, नखशिख, काव्य सिद्धान्त. रसरत्नाकर, भक्ति
विनोद, शृंगार सागर ।
21–जोधराज : हम्मीररासो ।
22–उदयनाथ कवीन्द्र : रसचन्द्रोदय, विनोद चन्द्रिका, जोगलीला ।
23–नृप शम्भू : नायिका भेद, नखशिख ।
24–कृष्णभट्ट देव ऋषि : शृंगार रस माधुरी ।
25–जय कृष्ण भुजंग : पिंगलरूप दीप भाषा ।
26–श्रीपति : काव्यसरोज, कविकल्पद्रुम, रससागर, ग्रनुप्रास विनोद,
विक्रमविलास, सरोज कलिका, ग्रलंकार गंगा ।
27–गोप : रामालंकार, रामचन्द्रभूषण, रामचन्द्राभरण ।
28–याकूब खां : रसभूषण ।
29–घनानन्द : सुजानहित प्रबन्ध, कृपाकन्द निबन्ध, वियोग बेलि,
इश्कलता, यमुनायश, प्रीतिपावस, पदावली, प्रकीर्णक
छन्द ग्रादि ।
30–रसलीन : ग्रंगदर्पण, रसप्रबोध, स्फुट छन्द ।
31–सोमनाथ : रसपीयूषनिधि, शृंगारविलास, प्रेमपचीसी ।
32–दलपतिराय वंशीधर : ग्रलंकार रत्नाकार ।
33–रसिक सुमित : ग्रलंकार चन्द्रोदय ।

34–भिखारीदास : काव्यनिर्णय, शृंगार निर्णय, रस सारांश छन्दार्णव पिंगल, छन्दप्रकाश ।

35–कृष्णकवि : अलंकारकलानिधि, गोविन्दविलास ।

36–भूपति : सतसई, कण्ठाभूषण, रसरत्नाकर ।

37–रघुनाथ : काव्य कलाधर, रसिक मोहन, रसरहस्य, इश्कमहोत्सव, समासार ।

38–दूलह : कविकुलकंठाभरण, स्फुट छन्द ।

39–हितवृन्दावनदास : स्फुट पद (अब तक 20,000 पद उपलब्ध हुए हैं)

40–गिरिधर कविराय : अनेक स्फुट छंद ।

41–चन्दन : शृंगार सारस, काव्याभरण, कल्लोलतरंगिणी, केशरी प्रकाश, सतसई, पथिकबोध, तत्व संग्रह, नखशिख, प्राज्ञविलास, पत्रिकाबोध ।

42–गुमानमिश्र : अलंकार दर्पण ।

43–व्रजवासीदास : व्रजविलास ।

44–बैरीसाल : भाषाभरण ।

45–शिवनाथ : रसवृष्टि ।

46–उजियारे : जुगल रस प्रकाश, रस चन्द्रिका ।

47–जनराज : कविता रस विनोद ।

48–सेवादास : नखशिख, रसदर्पण, गीतामाहात्म्य, अलबेले लालजू को नखशिख, राधासुधा शतक, रघुनाथ अलंकार ।

49–रामसिंह : अलंकार दर्पण, रस सिरोमणि, रस निवास, रस विनोद ।

50–रतन कवि : फते प्रकाश, अलंकार दर्पण ।

51–हठी जी : श्री राधा सुधाशतक ।

52–बोधा : विरहवारीश, इश्कनामा ।

53–रामसहाय : सतसई, वृत्ततरंगिणी, वाणीभूषण ।

54–नन्दकिशोर : पिंगल प्रकाश ।

55–दशरथ : वृत्त विचार ।

56–रासिक गोविन्द : रासिक गोविन्दान्दघन, पिंगल, रासिक गोविन्द-युगलरस माधुरी, समय प्रबन्ध, लछिमन चन्द्रिका, अष्टदेश भाषा ।

57–समनेश : काव्यभूषण, रसिक विलास, पिंगल ।

58–जसवन्तसिंह द्वितीय : शृंगार शिरोमणि ।

59–पद्माकर : जगद्विनोद पद्मभरण, गंगालहरी प्रबोधपचासा, कलिपच्चीसी, प्रतापसिंह विरुदावली, स्फुट छन्द ।

60–पजनेस : स्फुट छन्द ।

61–प्रतापसिंह : व्यंग्यार्थ कौमुदी, काव्य विलास, जयसिंह प्रकाश, शृंगार मंजरी, शृंगार शिरोमणि, अलंकार चिन्तामणि, काव्य विनोद, जुगल नखशिख ।

62–बेनीबंदीजन : टिकैत राय प्रकाश, भड़ोवा संग्रह, रस विलास ।

63–बेनी 'प्रवीन' : नव रस तरंग, शृंगार भूषण, नाना राव प्रकाश ।

64–जगतसिंह : साहित्यसुधानिधि ।

65–गिरधरदास : रसरत्नाकर, भारती भूषण, उत्तरार्धनायिकाभेद ।

66–दीनदयाल गिरि : अन्योक्तिकल्पद्रुम, अनुरागबाग, वैराग्यदिनेश, दृष्टान्त तरंगिणी ।

67–अमीरदास : सभामंडन, वृतचन्द्रोदय ब्रजविलास, सतसई, श्रीकृष्ण साहित्य सिन्धु, शेरसिंह प्रकाश ।

68–ग्वाल : यमुना लहरी, भक्ति भावन, रसिकानन्द, रसरंग, कृष्ण जू को नखशिख, दूषण दर्पण, राधा माधव मिलन, राधाष्टक, कवि हृदय विनोद, कवि दर्पण, नेह निर्वाह, बंसीबीसा, कुब्जाष्टक, षड्ऋतुवर्णन, अलंकारभ्रमभंजन, रसरूप, गंगा शतक ।

69–चन्द्रशेखर वाजपेयी : रसिक विनोद, नखशिख, वृन्दावन शतक, गुरु पंचाशिका, ताजक, माधवी वसन्त, हरिभक्ति विलास ।

70–नवीन : रंगतरंग, सुधासर ।

71–द्विज देव : शृंगार लतिका, शृंगार बत्तीसी, शृंगार चालीसी, कविकल्पद्रुम ।

2. प्रबन्ध काव्य

1–चिन्तामणि : रामायण, रामाश्वमेध, कृष्णचरित ।

2–गोविन्दसिंह : चण्डी चरित्र ।

3–मण्डन : जानकी जू का ब्याह, पुरन्दर माया ।

4–कुलपति मिश्र : द्रोण पर्व (संग्रामसार)

5–लालकवि : छत्र प्रकाश ।

6–सूरति मिश्र : श्री रामचरित, श्री कृष्ण चरित ।

7–श्रीधर : जंग नामा ।

8–सोमनाथ : पंचाध्यायी, सुजान विलास ।

9–रघुनाथ : जगतमोहन ।

10–गुमान मिश्र : नैषधचरित । (काव्यकलानिधि)
11–सूदन : सुजान चरित ।
12–रामसिंह : जुगल विलास ।
13–चन्दन : शीत वसन्त, कृष्णकाव्य ।
14–पद्माकर : हिम्मत बहादुर विरुदावली ।
15–रसिक गोविन्द : रामायण सूचनिका ।
16–ग्वाल : हम्मीर हठ, विजय विनोद, गोप पच्चीसी ।
17–चन्द्रशेखर बाजपेयी : हम्मीर हठ ।

3. नाटक

1–जसवन्तसिंह	प्रबोधचन्द्रोदय नाटक
2–राम	हनुमान नाटक
3–नेवाज	शकुन्तला नाटक
4–सोमनाथ	माधव विनोद नाटक
5–देव	देव मायाप्रपंच नाटक
6–ब्रजवासीदास	प्रबोध चन्द्रोदय नाटक

रीति-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति—

रीतिकाल के संदर्भ से जो उपलब्ध साहित्य सामग्री उपरिसंकेतित है, उसके अध्ययन से कुछ निष्कर्ष सामने आते हैं। इन निष्कर्षों में सर्वाधिक उल्लेख्य एवं महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह है कि रीतिकाल के कवियों में रीति निरूपण की विशिष्ट एवं व्यापक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। राजाश्रित ही नहीं, स्वतन्त्र जन-कवियों ने भी एक दो ग्रन्थ लिखकर न केवल अपना आत्म-प्रदर्शन किया है, अपितु रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति विषयक रुचि को प्रकट किया है। रीति निरूपण की यह प्रवृत्ति इस काल के कवियों में अथवा कहे कि उनकी रचनाओं में तीन रूपों में प्रकट हुई है। पहला रूप वह है जो कवियों को रीति-कर्म के निर्वाह कि प्रेरणा देता रहा है। इस कर्म के माध्यम से कवियों ने विशिष्ट काव्यांगों पर संक्षिप्त लक्षण, उदाहरण देकर अथवा स्वरचित लक्षण एवं अन्य कवियों के उदाहरण प्रस्तुत करके विषय को समझाने में ही अपना दायित्व समझा है। जसवन्तसिंह का "भाषा-भूषण", कवि दूलह का "कविकुल कंठाभरण", रसरूप का "तुलसी भूषण" आदि ग्रन्थ इनके प्रमाण है। ये वे ग्रन्थ हैं जिनका कवित्व की दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है।

दूसरा रूप विभिन्न काव्यांगों के लक्षणों और उनके अनुसार सरस उदाहरणों की रचना से सम्बन्धित है। रीति-निरूपण की प्रवृत्ति के इस दूसरे रूप के उदाहरणस्वरूप जिन कवियों और उनकी रचनाओं का नाम लिया जा सकता

है, वे ये हैं — चिन्तामणि के "कविकुलकल्पतरु", "रसविलास", और "शृंगार मंजरी", मतिराम के "रसराज", "ललितललाम" और "अलंकार पंचाशिका", भूषण का "शिव राज भूषण", कवि देव का "भावविलास", "शब्दरसायन", "रसविलास", आदि, गोप के "रामचन्द्र भूषण" और "रामचन्द्राभरण" आदि, दास के "काव्य-निर्णय", "रस सारांश" और 'शृंगार निर्णय", सेवादास का "रघुनाथ अलंकार", पद्माकर का 'जगद्विनोद", ग्वाल के "रसरंग" और "रसिकानन्द" आदि ग्रन्थ। इन ग्रन्थों मे लक्षणों की तरह ही जिन उदाहरणों को प्रस्तुत किया गया है, वे पर्याप्त कवित्वपूर्ण हैं। ऐसे ग्रन्थो की संख्या काफी है और साथ ही साथ इनमे वर्णित विषय पर्याप्त विविधता लिए हुए हैं। इनमें हास्य, करुण, वीभत्स रसों के उदाहरण भी हैं तो नीति और प्रकृति-वर्णन विषयक रचनाएँ भी आसानी से मिल जाती हैं।

रीति निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति का तीसरा रूप उन ग्रन्थों मे देखने को मिलता है जो पहले रूप से अलग हैं अथवा कहें कि पूरी तरह विपरीत हैं। इस रूप के अन्तर्गत आने वाले ग्रन्थ और उनके रचयिताओं का उद्देश्य भी पहले रूप के अन्तर्गत आने वाले रचयिताओं से भिन्न है। इस तीसरे रूप के रचयिताओं का मूल उद्देश्य यह रहा है कि ये सभी काव्य-शास्त्र का ज्ञान तो रखते थे और काफी गहरा ज्ञान रखते थे, किन्तु फिर भी ये कवि-लक्षणों के चक्कर में नहीं पड़े हैं। काव्यशास्त्र के ज्ञान के कारण इन ग्रन्थों मे काव्यशास्त्र का प्रभाव तो स्पष्ट है, किन्तु उनकी सरसता भी असंदिग्ध है। बिहारी, मतिराम, चन्दन और भूपति आदि कवियों की सतसइयां, हठीजी का श्रीराधा सुधाशतक, पजनेस के स्फुट छन्द और ग्वाल कवि का कवि-हृदयविनोद आदि ग्रन्थ रीति निरूपण के इसी रूप के अन्तर्गत आते हैं। "इन ग्रन्थों मे संगृहित रचनाओं पर काव्यशास्त्र की छाप स्पष्टतः देखी जा सकती है — कतिपय ने तो दूसरे ग्रन्थों मे विभिन्न काव्यांगों के लिए उद्धृत छन्दों को भी इनमे संकलित कर दिया है। इन ग्रन्थों मे यद्यपि पूर्वोक्त विषयों की रचनाएँ भी संकलित है, तथापि इनका मूल विषय शृंगार ही है। इस प्रकार कवित्व की दृष्टि से इन ग्रन्थों मे शृंगार सर्वाधिक व्यापक विषय रहा है। वीररस और भक्ति परिमाण की दृष्टि से इसके बाद आते है - नीति, प्रकृति आदि से सम्बद्ध रचनाएँ अपने आप मे अपेक्षाकृत बहुत कम हैं। कुल मिलाकर इन ग्रन्थो में संकलित रचनाएँ पर्याप्त सरस एवं वैविध्यपूर्ण होती हुई भी रीति-निरूपण के लिए रचित होने के कारण मूलतः रीतिपरक अथवा रीतिबद्ध ही हैं।[13]

इस काल मे कुछ इतर ग्रन्थ भी लिखे गये है। ये इतर ग्रन्थ रीति निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति से अलग पद्धति पर रचे गये है। यह तो माना जा सकता है और ठीक भी है कि इन इतर ग्रन्थों के वर्ण्य विषय उपर्युक्त ग्रन्थों की भांति ही

शृंगार, वीर रस, भक्ति और नीति से सम्बद्ध हैं तो भी इन विषयों के मूल मे
रीति-ग्रन्थों के कामशास्त्रीय आधार की भाँति कोई सर्वसामान्य आधार उपलब्ध
नहीं है। अतः किसी ऐसी प्रवृत्ति का निर्देश कठिन है जिसकी सीमा में इन काव्य
ग्रन्थों को देखा जा सके। काव्यशास्त्र के नियमों की ओर इन ग्रन्थों में ध्यान नहीं
दिया गया है। एक वाक्य मे कह सकते है कि इन ग्रन्थो के रचयिताओं की दृष्टि
रीति की परिपाटी से बँधी हुई नही है बल्कि उनसे मुक्त है। हाँ, इतना तो मान
जा सकता है कि इन रीतिमुक्त कवियों ने काव्यशास्त्र को जाने-अनजाने अपने
रचनाओं में स्थान अवश्य दे दिया है। इस विषय में यह कहा जा सकता है कि
काव्यशास्त्र के नियमों से प्रभावित न होकर काव्य रचना करने की प्रवृत्ति की
बात तो किसी भी युग के कवियों पर लागू हो सकती है सामान्यतः कवि काव्य
शास्त्र का अध्ययन करके काव्य की रचना नहीं करते, काव्यशास्त्रीय नियमों की
रचना ही काव्य-ग्रन्थो के अध्ययन के पश्चात् हुआ करती हैं। दूसरे चूँकि इन
कवियो द्वारा गृहीत काव्य-विषयों की प्रेरणा के स्त्रोत भिन्न रहे हैं, इसलिए भी
इनके मूल मे एक प्रवृत्ति की खोज नही की जा सकती है। प्रत्येक के अनुरूप
भिन्न प्रवृत्ति ही देखनी होगी।[13]

रीतिमुक्त काव्य मे जो शृंगारिक निरूपण है, उसका स्त्रोत वैयक्तिक
प्रेमानुभूति है। इसी अनुभूति के साथ प्रेम की पीर का भाव जुड़ा हुआ है। यह
प्रेम की पीर भारतीय काव्यशास्त्र मे निरूपित शृंगार रस की सामग्री मे नही
आती है। इसका सम्बन्ध स्वच्छन्द है और फारसी काव्य के प्राणरूप को उभारा
गया है। स्पष्ट शब्दो मे यह भी कहा जा सकता है कि इन प्रेमी कवियों ने
शृंगार के उन सिद्धान्तों की उपेक्षा की है जो भारतीय काव्यशास्त्र मे वर्णित है।
इनके काव्य मे शास्त्रीय दृष्टि का विरोध है। ठाकुर के कवित्त इस मत का
स्पष्ट प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इस वर्ग की शृंगारिक रचनाओं के साथ-साथ वीर
भक्ति और नीति की रचनाएँ भी महत्त्व रखती हैं। इनमे भी काव्यशास्त्रीय
चेतना के प्रति कोई आग्रह नहीं है किन्तु विद्रोह का भाव भी नही है। नीति
काव्य की भी यही स्थिति है। वृन्द, दीनदयाल गिरि और गिरिधरदास का काव्य
इसका प्रमाण है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि रीतिकाल में रचित साहित्य की मूल
प्रवृत्ति तो रीतिनिरूपण की ही रही है, किन्तु इसी काल मे कवियो का एक वर्ग
रीतिबद्धता को छोड़कर रीतिमुक्तता की ओर अग्रसर हुआ है। घनानन्द, आलम,
ठाकुर और बोधा का काव्य ऐसा ही है। द्विजदेव की काव्य-रचना भी इसी कोटि
मे आती है। वीर रस का प्रणेता भूषण भी रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति से किंचित
अलग खड़ा दिखाई देता है। भक्ति और नीतिकाव्य की रचना करने वाले कवियों
का स्वर और कलात्मक स्वरूप भी रीतिनिरूपण से किंचित अलग है।

रीति कवियों के वर्ग :

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे रीतिनिरूपण की व्यापक प्रवृत्ति देखने को मिलती है। यदि इसी रीतिनिरूपण को आधार बनाया जाय तो रीतिकाल के कवियों को प्रमुखतः दो वर्गों मे रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है। पहले वर्ग के अन्तर्गत रीतिकाल के वे कवि आयेंगे जिन्हें हम सर्वांगनिरूपक कवि की अभिधा प्रदान कर सकते हैं। दूसरे वर्ग के अन्तर्गत उन कवियों को स्थान प्राप्त होगा, जिन्हें विद्वान समीक्षकों ने विशिष्टाग निरूपक कवि कहा है। पहले वर्ग मे सर्वांग-निरूपक कवियों को स्थान दिया गया है और इस वर्ग से तात्पर्य उन कवियो के काव्य से है जिन्होंने काव्य के समस्त अंगों—काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्य की आत्मा (रस अथवा ध्वनि), शब्द-शक्ति, गुण, दोष, रीति, अलंकार और छन्द का विवेचन अपने ग्रन्थों मे किया है। अभिप्राय यह हुआ कि इस वर्ग के कवि सभी काव्यागो को अपने काव्य मे लक्षण-उदाहरण सहित प्रस्तुत करने मे सफल हुए हैं। इस वर्ग में चिन्तामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, दास और जनराज जैसे आचार्य कवि आते हैं।

दूसरे वर्ग मे विशिष्टांग निरूपक कवियों को स्थान दिया गया है। विशिष्टांग निरूपक आचार्यों मे उन कवियों को स्थान प्राप्त है जिन्होने सभी काव्यांगों को विश्लेपित-विवेचित नही किया है। विशिष्टाग का अर्थ ही यह है कि काव्यांग के किसी विशिष्ट अंग का निरूपण, सर्वांग का नही। विशिष्टाग निरूपक आचार्यों ने प्रायः काव्य के तीन महत्त्वपूर्ण अंगों, रस, छन्द और अलंकार को ही अपने विवेचन का विषय बनाया है। इस विशिष्टांग निरूपकों मे कुछ ऐसे भी है जिन्होने इन तीनों मे से किन्ही दो को, किसी एक को और किसी ने इन तीनों को महत्व दिया है। इस आधार पर निरूपण करने वाले कवियो के भी तीन वर्ग हो सकते हैं—(1) समस्त रसो के निरूपक, (2) शृंगार के रस निरूपक, और (3) शृंगार रस के आलम्बन नायक-नायिकाओं के भेदोपभेद के निरूपक। जिन कवियों ने समस्त रसों का निरूपण किया है उनमे रामसिंह, सेवादास, बेनीप्रवीन, तोष, याकूबखां और पद्माकर आदि का नाम लिया जा सकता है। केवल शृंगार रस का निरूपण करने वालो मे मतिराम, उदयनाथ, कवीन्द्र, चन्द्रदास, यशवन्तसिंह और कृष्ण-कवि आदि का संदर्भ दिया जा सकता है। जिन्होने नायक-नायिका भेद विवेचन किया है, उनमे प्रमुखतः कालिदास, यशोदानन्दन, गिरिधरदास के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

अलंकार-निरूपक आचार्यों की श्रेणी मे मतिराम, भूषण, कोप, दलपति-राय, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह, वेरीमाल, सेवादास और पद्माकर जैसे कवियों को परिगणित किया जा सकता है। अब रहे छन्दोनिरूपक आचार्य। इनमें सुखदेव

मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, दास, दशरथ, नन्दकिशोर, रामसहाय और मतिराम उल्लेखनीय हैं। यदि इन तीनों अंगों को स्वतन्त्रतः ग्रहण करें तो ये कवि चार वर्गों में विभाजित हो जाते हैं। चार वर्ग ये हैं—(1) सर्वांग निरूपक कवि (2) रस निरूपक कवि, (3) अलंकार निरूपक कवि और (4) छन्दो निरूपक कवि। यह वर्गीकरण रीतिनिरूपण की व्यापक प्रवृत्ति को आधार बनाकर किया गया है। यदि सम्पूर्ण रीतिकाल के कवियों का विभाजन करें तो उन्हें दो श्रेणियों में रखा जा सकता है। पहली श्रेणी में वे कवि आयेंगे जिन्होंने रीति की परिपाटी से जुड़कर काव्य-रचना की है। उपर्युक्त चारों वर्गों में आने वाले कवि रीतिबद्ध कवि कहे जायेंगे। कोई चाहे तो इन्हें मात्र रीतिकवि कहकर ही काम चला सकता है। इसके अतिरिक्त दूसरे वर्ग में वे कवि आयेंगे जिन्होंने रीति की प्रचलित परिपाटी का परित्याग करके स्वच्छन्द मार्ग का अनुसरण किया और रीति निरूपण के आधार पर न तो लक्षण ग्रन्थों का निर्माण किया और न रीतिबद्धता को अपने काव्य में आश्रय दिया। ये वे कवि हैं जिन्हें रीतिमुक्त कवि कहा जाता है। इन कवियों में प्रमुख हैं—घनानन्द, बोधा, ठाकुर, आलम और द्विजदेव। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने अकेले बिहारी को इन दोनों वर्गों से अलग रखा है। उन्होंने बिहारी को रीतिसिद्ध कवि घोषित किया है। रीतिमुक्त, रीतिसिद्ध और रीतिबद्ध काव्य में क्या अन्तर है, क्या समानता है और इनकी क्या प्रमुख विशेषताएं हैं, इनका विवेचन आगे स्वतंत्र अध्याय में किया गया है, अतः यहाँ संकेत मात्र करके ही छोड़ दिया गया है।

संदर्भ संकेत

1. डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, पृ. 11
2. डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका
3. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास
4. डॉ. महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, पृ. 15
5. कृष्णनारायण प्रसाद मागध की कृति "हिन्दी साहित्य : युग और धारा" में उद्धृत, पृ. 177
6. वही : वही, पृ. 178
7. वही : वही, पृ. 178
8. डॉ. हरिचरण शर्मा : आलोचना और सिद्धांत, पृ. 317
9. डॉ. महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, पृ. 16
10. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, पृ. 192
11. डॉ. महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, पृ. 17
12. डॉ. नगेन्द्र : हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, पृ. 306
13. डॉ. नगेन्द्र : वही, पृ. 307

4. रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ

जब हम किसी काल की प्रवृत्तियो का अध्ययन करते है तो हमारा तात्पर्य उस काल विशेष मे निहित कवियो की काव्यगत वृत्तियों से होता है। प्रवृत्ति का अर्थ विशेषता है। ऐसी स्थिति मे रीतिकाल की प्रवृत्तियाँ शीर्षक से तात्पर्य रीतिकाल मे उपलब्ध उन विशेषताओं से है जो रीतिकाल को रीतिकाल बनाती है। उल्लेखनीय यह है कि प्रवृत्तियाँ प्रतिपाद्य के बाद आती हैं। पहले हम किसी कविता का चाहे वह किसी कवि की हो अथवा किसी युग विशेष की, प्रतिपाद्य जानना चाहते हैं। रीतिकाल का प्रमुख प्रतिपाद्य शृंगार रहा है। शृंगार के जितने भी पक्ष सम्भव हैं, उन सभी को इस काल के कवियों ने अपनी कविताओं मेस्थान दिया है। ऐसी स्थिति मे हम कह सकते हैं कि रीतिकाल का प्रमुख प्रतिपाद्य अथवा विषय शृंगार तो है ही, रीतिनिरूपण भी है। इस काल के कवियो ने विविध काव्यांगों को अपना प्रतिपाद्य बनाया है और साथ ही साथ नायक-नायिका भेद के संदर्भ से ही शृंगार भावना को प्रमुखता प्रदान की है।

रीतिकाल मे शृंगार प्रमुख रस और काव्य-विषय बनकर आया है। यह स्थिति यह सोचने को बाध्य करती है कि आखिर ऐसी क्या बात है कि इस काल के कवियो ने प्रमुख प्रतिपाद्य के रूप मे शृंगार को उसके विविध पक्षो के साथ अपना प्रतिपाद्य बनाया है। इसका स्पष्ट उत्तर यह है कि इस काल के अधिकांश कवि बड़े-बड़े राजाओं-महाराजाओं के आश्रय मे पलते थे, उनका मनोविनोद करते थे और उनके मनोनुकूल काव्य-रचना मे प्रवृत्त होते थे। उस समय जो राजा थे, उनकी मनोवृत्ति विलास और वैभव से प्रेम करने की थी। जब राजा विलास मग्न होगा, वैभव प्रिय होगा तो उसके दरबार में रहने वाले कवि उसकी इस मनोवृत्ति को पकड़कर तदनुकूल काव्य-रचना मे प्रवृत्त होंगे ही। इससे इस काल के कवियों को दो लाभ होते थे—पहला यह कि वे अपने जीवन-यापन के लिए सुविधा प्राप्त कर लेते थे और दूसरे यह कि उन्हे राजदरबारो मे रहकर यथोचित सम्मान भी मिल जाता था। जब कवि को एक साथ दुहरा लाभ हो तो वह अपने आश्रयदाता के मनोनुकूल काव्य-रचना क्यो न करेगा? स्पष्ट ही उसे अपनी काव्य-रचना का प्रतिपाद्य वही बनाना पड़ता है जो उसका आश्रयदाता चाहता है। यही कारण है कि रीतिकाल मे शृंगार प्रमुख प्रतिपाद्य बनकर आया है।

ये राजा लोग कला को भी विशेष महत्त्व देते थे, अतः कवि लोग अपनी कविता में कलात्मक चमत्कार भी दिखलाया करते थे। रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति

इसी कलात्मक चमत्कार और कवियों के पांडित्य की द्योतक है। इस प्रकार रसों में शृंगार और उसके विविध पक्ष तथा कला में आचार्यत्व और पांडित्य प्रदर्शन जैसे विषय ही रीतिकाल का प्रमुख प्रतिपाद्य रहे हैं। इसका अर्थ यह नहीं लेना चाहिए कि इन कवियों ने अच्छा साहित्य नहीं लिखा है। वास्तव में बावजूद उक्त मनोवृत्ति के इस काल के कवियों ने काव्य को सरस, रोचक एवं व्यक्ति के मानस को गहराई तक छूने वाला बनाकर प्रस्तुत किया है।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में शृंगार के संदर्भ से एक विशेष प्रकार का रुग्ण मनोभाव मिलता है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस रुग्ण मनोभाव को अभिव्यक्त करते हुए लिखा है—"*17वीं शताब्दी में मुगलों का विशाल साम्राज्य* ह्रासोन्मुख हो चला था, उस समय दिल्ली के सिंहासन पर सम्राट शाहजहाँ आसीन था। शाहजहाँ का शासनकाल मुगल साम्राज्य का मध्याह्नकाल था। उसके जीवनकाल में ही गृह में कलह आरम्भ हो गया, और उदार तथा लोकप्रिय दाराशिकोह को दबाकर औरंगजेब सम्राट बन बैठा। इस काल में पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण में सर्वत्र विद्रोह की आंधी आई, और धीरे-धीरे मुगल शक्ति क्षीण से क्षीणतर होती गयी। केन्द्रीय शासन निर्बल पड़ गया, छोटे-छोटे रजवाड़े और नवाब स्वतन्त्र हो गये। समूचे देश में क्या राजनीति, क्या धर्म, क्या काव्य क्षेत्र—कहीं भी कोई प्रथम श्रेणी का नेता उत्पन्न नहीं हुआ। मुगल शासन के अन्तिम दिनों में जिस उत्तरदायित्वहीन विलासिता का वातावरण उत्पन्न हुआ था, वह नाना टुकड़ों में विभक्त होकर छोटे-छोटे आकारों में सारे देश में व्याप्त हो गया। लेकिन उसकी प्रकृति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हुआ। विलासिता जब चित्तगत संकीर्णता के साथ प्रकट होती है, तो केवल विनाश की ओर ही ले जाती है। मुगल दरबार के आदर्श पर प्रतिष्ठित शतधाविकीर्ण विलासिता छोटे-छोटे सरदारों के दरबारों में इसी चित्तगत संकीर्णता के साथ सम्बद्ध हो गयी। इसीलिए इस काल की शृंगार भावना में एक प्रकार का रुग्ण मनोभाव है।"

रीतिकाल के अन्तर्गत कवियों के प्रेरणास्रोत तीन प्रकार के ग्रन्थ थे। पहले वे जिनमें अनेक प्रकार की प्रेम-क्रीडाओं को निरूपित किया गया है और कामशास्त्र का विवेचन किया गया है। दूसरे प्रकार के वे ग्रन्थ भी इन कवियों के प्रेरणास्रोत रहे हैं जो अलंकारशास्त्र से सम्बन्धित थे और उनमें उक्ति-वैचित्र्य का विवेचन किया गया है। तीसरे, रसशास्त्र से सम्बन्धित वे ग्रन्थ जिनमें नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावों का विवेचन किया गया है। ये तीनों प्रकार के ग्रन्थ रीति कवियों के प्रेरणास्रोत थे और इसी कारण इस काल में रीतिनिरूपण और शृंगार प्रमुख प्रतिपाद्य बनकर आया है। रीतिकाल के शृंगारी साहित्य की एक उल्लेखनीय विशेषता यह रही है कि इसमें शृंगार के आश्रय भी

उस युग के धर्म और अध्यात्म के आश्रय की भाँति ही श्रीकृष्ण रहे हैं। इस विवेचन के साथ यह कहना भी उचित प्रतीत हो रहा है कि रीतिकाल का प्रतिपाद्य ही उस काल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ और गौण प्रवृत्तियों का प्रेरक रहा है। ठीक भी है, प्रतिपाद्य से ही प्रवृत्तियाँ निकलती हैं।

प्रवृत्ति विश्लेषण :

रीतिकाल की प्रवृत्तियो को हमारी दृष्टि मे तीन वर्गों में विभाजित करके समझा जा सकता है। प्रथम वर्ग मे मूल प्रवृत्तियाँ आती हैं, दूसरे में गौण प्रवृत्तियो को स्थान प्राप्त है और तीसरे मे कलाभिव्यंजन सम्बन्धी प्रवृत्तियो को विवेचित किया जा सकता है। जहाँ तक मूल प्रवृत्तियो का प्रश्न है, इनमें प्रमुखतः इन प्रवृत्तियों को गृहीत किया जा सकता है—(1) रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति, (2) आचार्यत्व प्रदर्शन की प्रवृत्ति, (3) शृंगारिकता की प्रवृत्ति, (4) नारी-भावना और सामन्ती दृष्टि की द्योतक प्रवृत्ति, (5) प्रेम भावना, (6) प्रकृति निरूपण, (7) सौन्दर्य भावना अथवा सौन्दर्यानुभूति। गौण प्रवृत्तियों के अन्तर्गत इस काल मे उपलब्ध भक्ति-भावना, नीतिपरकता, वीररसात्मकता अथवा प्रशस्तिपरकता के साथ-साथ हास्यपरकता को भी लिया जा सकता है। कलाभिव्यंजन सम्बन्धी प्रवृत्तियों में काव्य के कलापक्ष से सम्बन्धित प्रवृत्तियाँ आती हैं। रीतिकाल के सन्दर्भ से ब्रजभाषा का प्रचुर प्रयोग, अलंकार-प्राचुर्य, सूक्ष्म व कलात्मक अभिव्यंजना, चित्रमयता और काव्य रूप जैसी प्रवृत्तियो को लिया जा सकता है। इन्ही उपर्युक्त तीन वर्गो मे संकेतित प्रवृत्तियो का विवेचन विशेषण यहाँ किया जा रहा है।

मूल प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल का प्रमुख प्रतिपाद्य शृंगार निरूपण और रीति निरूपण रहा है, अतः इसी से जुड़कर कतिपय मूल प्रवृत्तियाँ इस काव्य में उभरकर सामने आई है। ऐसी मूल प्रवृत्तियो का क्रमिक एवं सोदाहरण विवेचन इस प्रकार है—

रीति निरूपण :

रीतिकाल मे राजाश्रित कवियो में से अधिकतर ऐसे कवि थे जो रसिक समुदाय को काव्यांगो का सामान्य ज्ञान प्राप्त कराने के उद्देश्य से रीति-ग्रन्थों का प्रणयन करते रहे है। रीति निरूपण की मनोवृत्ति सभी राजाश्रित कवियों में मिलती है, किन्तु कुछ जनकवि भी ऐसे थे जिन्होंने इस प्रवृत्ति को अपने काव्य के माध्यम से प्रस्तुत किया है। रीतिनिरूपण की व्यापक प्रवृत्ति का विश्लेषण करते समय कुछ अन्तःप्रवृत्तियाँ भी स्वतः ही उद्घाटित हो जाती है। इन अन्तःप्रवृत्तियों का विवेचन रचयिता की दृष्टि, काव्यांग विवेचन तथा निरूपण शैली के आधार

पर पृथक्-पृथक् किया जा सकता है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस काल के कवि रीतिनिरूपण में दो स्थितियों से जुड़े रहे–सर्वांग विवेचन की और विशिष्टांग विवेचन की। इस काल के कवि इन दोनों ही अन्तःप्रवृत्तियों को अपने काव्य मे समेटे हुए हैं। यदि ग्रन्थकारों की दृष्टि को आधार बनायें और तब प्रवृत्तियों का अध्ययन करें तो यही कहना होगा कि इस युग में रीतिग्रन्थों की रचना प्रमुखतः तीन उद्देश्यों से की गयी। पहला उद्देश्य मात्र रीतिकर्म का परिचायक है और इसके लिए वे ग्रन्थ उल्लेख्य हैं, जिनमे सामान्य रूप से काव्यांग विशेष का परिचय कराना ही रचनाकार का उद्देश्य रहा है। इस उद्देश्य के तहत अपने कवित्व का प्रदर्शन कराना इनका कभी उद्देश्य नहीं रहा। यों भी जब काव्य मे लक्षण-उदाहरण होंगे तो वहाँ कवित्व विकसित भी कैसे हो पायेगा। जसवंतसिंह का 'भाषाभूषण', याकूबखां का 'रसभूषण', रसिक सुमति का 'अलंकार चन्द्रोदय', गोविन्द का 'कर्णाभरण' और दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' जैसे ग्रन्थ रीतिकर्म के निर्वाह की प्रवृत्ति को स्पष्ट सूचित करते हैं। रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति मे ही कुछ ऐसे काव्य और उनके रचयिता भी सामने आते हैं जिन्होंने रीतिकर्म और कविकर्म दोनों को एक जैसा महत्व दिया है। इस श्रेणी मे जिन कवियों को स्थान प्राप्त है, वे उपरिविवेचित रीतिकर्म का निर्वाह करने वाले कवियों से इसलिए विशिष्ट हैं कि इन्होंने लक्षण और उदाहरण तो लिये है, किन्तु इनका सृजन इन्होंने स्वयं किया है।

इतना ही नहीं, इस प्रवृत्ति मे अर्थात रीतिकर्म और कविकर्म को समान भाव से देखने वाली प्रवृत्ति के अन्तर्गत काव्य इसलिए सरस हो गया है कि उसमें कवि का व्यक्तित्व भी आकर यदा-कदा मिलता रहता है। चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, दास, कुलपति, श्रीपति, पद्माकर और ग्वाल कवियों के ग्रन्थ रीतिनिरूपण विषयक इसी प्रवृत्ति के द्योतक हैं। रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति मे एक तीसरी प्रवृत्ति यह है कि इसके प्रस्तोताओं ने लक्षणों महत्त्व नहीं दिया है। ग्रन्थकारों ने प्रायः सभी छन्दों की रचना काव्यशास्त्र के नियमों मे बँधकर भी लक्षणों के फेर मे पड़ने की बजाय अपने ढंग से की है। बिहारी, मतिराम, भूपति, चन्दन कवि आदि की सतसइयां, नखशिख वर्णन विषयक ग्रन्थ और विभिन्न कवियों द्वारा रचित स्फुटछन्द इस प्रवृत्ति के सूचक है। इस प्रवृत्ति के ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण विशेषता यह रही है कि ये प्रमुखतः शृंगारी हैं और रीतिबद्ध हैं। रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति को आधार बनाकर काव्य-रचना करने की प्रवृत्ति इस काल की उल्लेखनीय प्रवृत्ति है। अतः यदि विवेचन-शैली के सन्दर्भ से इस काल का प्रवृत्ति-विश्लेषण किया जाय तो कह सकते है कि इस काल में रीतिनिरूपण की तीन प्रमुख शैलियाँ प्रचलित थी। इस विषय में हम डॉ. महेन्द्र कुमार के इस उद्धरण को देकर उसी से अपनी सहमति व्यक्त कर सकते हैं—

"इसमे प्रथम तो काव्यप्रकाश-साहित्यदर्पण की शैली है जिसमें लक्षणों-उदाहरणों के अतिरिक्त वृत्ति देकर विषयों को समझाने की चेष्टा की गयी है। इसके अन्तर्गत चिन्तामणि के 'कविकुलकल्पतरू', देव के 'शब्दरसायन', कुलपति के 'रसरहस्य', दास के 'काव्यनिर्णय', प्रतापसाहि को 'व्यंग्यार्थकौमुदी' और 'काव्य-विलास', ग्वाल के 'अलंकार भ्रमभंजन', 'साहित्यानन्द' आदि ग्रन्थों को लिया जा सकता है। इन ग्रन्थों के भीतर मम्मट-विश्वनाथ द्वारा दी गयी संस्कृत गद्य की वृत्ति के समान व्रजभाषा-गद्य की वृत्ति देकर विषय को यथावश्यकता समझाने का प्रयत्न किया गया है। दूसरी शैली चन्द्रालोक-कुवलयानन्द की संक्षेप शैली है। जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', दूलह का 'कविकुलकण्ठाभरण', बैरीसाल का 'भाषाभरण', गोविन्द का 'कर्णाभरण', याकूबखा का 'रसभूषण', पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि इसके परिचालक कहे जा सकते हैं। इनमें 'भाषाभूषण' 'कविकुलकण्ठाभरण' जैसे ग्रन्थों मे एक ही छन्द मे लक्षण और उदाहरण का एक साथ निर्वाह करने के कारण इस शैली का पूरा अनुकरण कहा जा सकता है, जब कि 'कर्णाभरण', 'रसभूषण', 'पद्माभरण' जैसे ग्रन्थों में संक्षिप्तता के निर्वाह का प्रयत्न तो अवश्य रहा है पर इस शैली का पूर्ण अनुकरण नहीं हो पाया—प्रायः लक्षण और उदाहरण, दोनो पृथक-पृथक दिये गये हैं। तीसरी शैली भानुदत्त की 'रसमंजरी' की कही जा सकती है जिसमें लक्षण और सरस उदाहरण देकर विषय-निरूपण किया गया है। रीतिकवियो ने इसका निर्वाह केवल भानुदत्त के समान शृंगाररस और नायिका-भेद विवेचन के लिए ही नहीं किया, रस, अलंकार और छन्दो के विवेचन मे भी किया है। उक्त दोनो शैलियो मे आने वाले ग्रन्थों को छोड़कर शेष सभी ग्रन्थ इसी शैली मे लिखे गये है। अतएव सर्वाधिक लोकप्रिय होने के कारण यह शैली सर्वाधिक व्यापक कही जा सकती है।"[2]

रीतिनिरूपण की व्यापक प्रवृत्ति को देखते हुए इस काल के विषय में कुछ प्रवृत्तिगत निष्कर्ष निकाले जा सकते है। कतिपय प्रमुख निष्कर्ष इस प्रकार है—

(1) इस युग के रीतिकवियों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण काव्यशास्त्र का ज्ञान कराने के लिए किया है। इसमे कोई सन्देह नही कि कवियों ने अपने काव्य को सरस बनाने का भरपूर प्रयास किया है, सुबोधता की रक्षा के लिए श्रम भी किया है, किन्तु फिर भी इस काव्य मे संस्कृत-काव्यशास्त्र के अन्तर्गत प्रचलित विविध शैलियों का अनुकरण दिखलाई देता है।

(2) दूसरा निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि रीतिनिरूपण के लिए इस काल के काव्य मे सामान्यतः ध्वनिपरवर्ती परम्पराओं के उन्ही संस्कृत-ग्रन्थों को आधारस्वरूप ग्रहण किया गया है जो प्रायः पाठ्यग्रन्थ बन चुके थे। ऐसा करने में कवि शिक्षक के धर्म का निर्वाह करते हुए दिखलाई देते हैं। आचार्य कर्म और

शिक्षक कर्म के इस विधान मे इन कवियों को एक सीमा तक सफलता भी प्राप्त हुई है।

(3) तीसरा उल्लेखनीय निष्कर्ष यह प्राप्त होता है कि भले ही इस काल के कवियों ने रीतिनिरूपण को प्रमुखता दी हो, विभिन्न काव्यांगों का भरपूर मनोयोग से ग्रहण और अभिव्यंजन किया हो, फिर भी मूलतः ये कवि रसवादी प्रतीत होते हैं। लक्षण-ग्रन्थों की परिपाटी को अपनाने पर रस को ही सर्वोपरि मानना और उसकी रक्षा करते चले जाना इन कवियों की प्रतिभा का कमाल ही है। इन कवियों की रचनाओं मे सिद्धान्त और व्यवहार दोनो ही दृष्टियों से रसवाद को ही प्रतिष्ठित करने का प्रयास दिखाई देता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि रीतिकाव्य की प्रमुख प्रवृत्ति रीतिनिरूपण की रही है।

शृंगारिकता :

रीतिनिरूपण की प्रवृत्ति की भाँति ही रीतिकालीन कविता की दूसरी उल्लेखनीय और विशिष्ट प्रवृत्ति शृंगारिकता की रही है। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग, नायक-नयिका भेद भी इस काव्य में मिलते है। परम्परा रूप में भक्तिकाव्य मे रति या प्रेमभाव की सामग्री प्राप्त कर इस युग ने शृंगार को रसराज के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। इस युग का परिवेश भी बहुत कुछ शृंगारी मनोवृत्ति के अनुकूल था। शृंगार-वर्णन ही रीतिकाव्य का मुख्य उद्देश्य था। इस काल मे कवियों का वर्ण्य विषय नायिकाभेद, नख-शिख, अलंकार आदि का लक्षण प्रस्तुत करना है, फिर भी इनके अन्तर्गत शृंगारी भावना ही वर्णित की गयी है। इस काल का शृंकार-वर्णन दो रूपो मे प्राप्त है--संयोग और वियोग। संयोग-वर्णन मे हाव भाव, अनुभाव, स्पर्श सुख, सुरत-वर्णन, विपरीत रति--वर्णन को भी महत्ता दी गयी है। इस दिशा मे विहारी का एक दोहा द्रष्टव्य है--

> बतरस लालच लाल की, मुरली धरी लुकाय।
> सौह करे भौहनि हँसे, दैन कहे नटि जाय॥

वियोग-वर्णन मे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा का वर्णन प्रस्तुत किया गया है। वियोगिनी की दसो दशाओ का वर्णन सभी शृंगारकालीन कवियों ने किया है। यो तो शृंगार का वर्णन प्रत्येक युग मे हुआ है किन्तु रीतिकाल के शृंगार की बात किंचित् भिन्न है। इस काल मे जो शृंगारिकता मिलती है, उसकी पीठिका इससे पूर्व ही तैयार हो गयी थी, भले ही पूर्व के भक्त कवियों की शृंगारपरक रचनाओं में अलौकिकता का रंग भी मिला हुआ रहा हो। इस धारा का स्रोत लोकधारा से न फूटकर भक्ति की धारा से निकला है। यही कारण है कि रीतिकाल में स्वकीया की अपेक्षा परकीया पर दृष्टि अधिक जमी है। इसका

एक कारण फारसी कविता की प्रतिद्वन्द्विता भी है। "साथ ही, सन्तों के 'रति इ तन में सचरे'," सूफियों के अलौकिक प्रेम, कृष्णभक्तों की मधुरा भक्ति और रा भक्तों के रसिक सम्प्रदाय मे इसे नैतिक बल, संस्कृत के शास्त्रीय ग्रन्थों से शास्त्री आधार, परवर्ती संस्कृत ग्रन्थों एवं प्राकृत और अपभ्रंश के शृंगारी ग्रंथों परम्परा एवं अपने युग की मनोवृत्ति से स्थापना भी मिली। अस्तु, इस अवसर लोगों ने खुलकर उपयोग किया है। कवियों ने पूर्ण स्वतन्त्रता के साथ शृंगार वर्णन किया है। इसमें किसी प्रकार का संकोच नहीं मिलता।[3] डॉ. नगेन्द्र मत है कि इस युग की 'शृंगारिकता में अप्राकृतिक गोपन अथवा दमन से उत्प ग्रन्थियां नहीं है, न वासना के उन्नयन अथवा प्रेम को अतीन्द्रिय रूप देने अनुचित-अनुचित प्रयत्न। जीवन की प्रवृत्तियां उच्चतर सामाजिक अभिव्यक्ति चाहे वंचित रही हो, परन्तु शृंगारिक कुंठाओं से मुक्त थी। इसी कारण इस यु की शृंगारिकता मे घुमड़न अथवा मानसिक छलना नहीं है।'[4]

शृंगारिकता की भावना के अन्तर्गत सर्वप्रथम आलम्बनगत सौन्दर्य चित्रण को लिया जा सकता है। रीतिकालीन नायिका हो अथवा किसी अन्य का की नायिका, उसके लिए सुन्दरता की खान होना अत्यन्त आवश्यक है। एक रीति कवि ने तो यहां तक लिखा है कि 'मानों रवि छवि मोहनि मूरति, श्रीधर ऐस बखानत नायिका'। वस्तुतः कान्ति, दीप्ति, शोभा और यौवन एक सुन्दर नायिक के लिए आवश्यक गुण है। रूढ़िगत लक्षणों के आधार पर नायिका का सौन्द निरूपण उतना आकर्षक नहीं रहा जितना कि वहां आकर्षक रहा है जहाँ शोभ कान्ति और दीप्ति को प्रमुखता दी गयी है। उल्लेखनीय यह भी है कि सौन्द चित्रण उपर्युक्त तीनों गुणों के समावेश से ही उत्कर्ष को प्राप्त कर पाता है मतिराम और विहारी के शृंगार वर्णन मे ये गुण आसानी से देखा जा सकता है उदाहरण के लिए निम्नांकित अंश देखिए—

1. अंग अंग छवि की लपट उपटति जाति अछेह।
   खरी पातरोऊ तऊ लगैं भरी-सी देह॥ —विहारी

2. कुन्दन को रंगु फीको लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई।
   आँखिन मे अलसानि चितौन मे मंजु विलासन की सरसाई॥
   को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि मिठाई।
   ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यो खरी निकरैसी निकाई
   —मतिरा

उपर्युक्त उदाहरणों मे कान्ति, दीप्ति और शोभा मिलकर सौन्दर्य चेतन को अभिव्यक्त कर रहे हैं। हाँ, इनमें ऐन्द्रिय चेतना की अनुभूति नहीं है। यदि संवेदना की घनता की अपेक्षा संवेगात्मकता अथवा इन्द्रियोत्तेजन देखना हो त

वह भी इस युग में भरपूर मात्रा मे मिलेगा। निम्नांकित उदाहरण देखिए जिनमे ऐन्द्रियता प्रधान है और संवेदना की घनता प्रायः नही के बराबर है।

1. घांघरे भीन सो, सारी महीन सों, पीन नितंबन भार उठै सचि।
बास सुबास सिंगार सिंगारनि, बोझनि ऊपर बोझ उठै मचि॥
—दास

2. जगमगे जोबन जराऊ तरिवन कान, ओठन अनूठो रस हांसी उमड परत।
कुचंकी मे कसे मवे उकसे उरोज बिन्दु, बंदन लिलार बडे बारघुमड़े परत॥
गोरे मुख स्वेत सारी कंचन किनारीदार, देव मणि झुमका झमकि झुमडे परत।
बड़े-बड़े नैन कजरारे बड़े मोती नथ, बड़ी बरूनीन होड़ाहोड़ी आड़े परत।
—देव।

बिहारी सतसई में भी अनेक स्थलों पर ऐसे चित्र आसानी से देखे जा सकते हैं जो उत्तेजना बढ़ाते हैं तथा अनुभूति की सघनता से काफी दूर पड़ते हैं। बिहारी की 'गदराने तन गोरटी ऐपन आड़ लिलार' और 'गोरी गदकारी परै हँसत कपोलन गाड' जैसी पंक्तियों में शृंगार का कामुक अथवा ऐन्द्रिय पक्ष ही अधिक स्पष्ट है। यह ऐसा पक्ष है जिसमे कवि स्वयं उपभोग मे रम जाता है। जहाँ-जहाँ रीतिकाव्य में ऐसे प्रसंग आये हैं, वहाँ-वहाँ सूक्ष्मता कम हो गयी है, संवेदना गायब हो गयी है और कवि की अत्यधिक रसिकता न केवल रसभंग का कारण हो गयी है, अपितु कामोत्तेजना बढाने का सशक्त माध्यम भी बनी है। बिहारी के रतिप्रसंग, विपरीतरति एवं आलिंगन-चुम्बन वाले दोहे भी इसी प्रकार के हैं। समूचा रीतिकाल इस प्रकार की उपभोग प्रधान एवं ऐन्द्रिय शृंगारिकता से भरा हुआ है।

शृंगार के संयोग और वियोग दोनों ही पक्षों का निरूपण रीतिकाव्य मे मिलता है। जहाँ-जहाँ संयोग का वर्णन है वहाँ-वहाँ उसके मूल मे रूप का आकर्षण प्रमुख रहा है। एक समीक्षक का यह कथन उचित है जिसमे कहा गया है कि रीतिकालीन कवियों के संयोग वर्णन में बहिरिन्द्रियसन्निकर्ष, हावादिजन्य चेष्टाओं, सुरत, विहार, मद्यपान इत्यादि के वर्णन हैं। दर्शन, स्पर्श, श्रवण, संलाप आदि इसी के अन्तर्गत हैं। इनकी प्रतिक्रियाएँ हाव, अनुभाव आदि के रूप में अभिव्यक्त हुई हैं। हाव क्रीडापरक होता है और अनुभाव व्रीडापरक। हाव सचेष्ट व्यापार है और अनुभाव सहज अनुभूतियों का बहिर्विकार है। शृंगारकालीन कवियों ने इनका वर्णन जमकर किया है। नारियों की शृंगारिक चेष्टाओं-भृकुटि, नेत्रों आदि के विलक्षण व्यापारों द्वारा सम्भोगेच्छाप्रकाशक भाव ही हाव के अन्तर्गत आते हैं।[5] किलकिंचित् हाव का वर्णन बिहारी की इन पंक्तियो मे बड़ा आकर्षक बन पड़ा है।

बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाय॥

अनुभवो की अभिव्यक्ति प्रायः स्मृति अथवा अंग-स्पर्श से होती है। लुका-छिपी जैसे खेलों मे रीतिकवियो ने कम्प, स्वेद, रोमांच और अश्रु इत्यादि सात्विक भावों के वर्णन भी किए है। देव और मतिराम के काव्य में इस प्रकार के स्पर्श सुख की आनन्दानुभूति का निरूपण बडी कुशलता से हुआ है। ध्यान रहे कि इस प्रकार के वर्णनो मे भावना के ऊपर वासना हावी हो गयी है। संयोग सुख के वर्णनो मे सूरत का वर्णन बिहारी, देव, मतिराम और पद्माकर आदि ने किया है। बिहारी तो रति-वर्णन मे उस सीमा तक पहुँच गये है जहाँ से आगे जाने के लिए सम्भवतः कोई रास्ता ही नही हो सकता है। उन्होने रति-प्रसंग मे चमक, तमक, हँसी, सिसक, मसक और लपट-झपट को भी याद किया है। इतना ही नहीं, उन्होंने ऐसी रति-क्रीडा को मुक्ति का द्वार बतलाया है। विपरीत रति के प्रसंग मे तो स्थिति और भी आगे पहुँच गई है। ये प्रसंग अश्लील तो हैं ही, कवि की मनोभावना को भी व्यक्त करते है। उदाहरणार्थ निम्नांकित दोहा देखिए—

पर्‍यौ जोरु विपरीति रति, रूपी सुरति रनधीर।
करति कुलाहल किंकिणी, गह्यौ मौन मजीर॥

मिलन के प्रसगों मे हास-परिहास को भी महत्त्व दिया गया है। ये प्रसंग कवि की रसिकता, नायक और नायिका की परस्पर की विरोध वृत्ति और प्रेमातिशयता को व्यक्त करते है। बिहारी ने कृष्ण और गोपिका के माध्यम से लिखा है—

लाज गहो बेकाज कत, घेरि रहै, घर जाँहि।
गौरस चाहत फिरत हो, गौरस चाहत नाँहि॥

गौने के दिन नायिका को बिछुवा पहनाती हुई प्रिय सखी के द्वारा किया गया यह परिहास कि बिछुवा प्रियतम के कानों के पास सदा बजता रहे, बड़ा ही मटीक बैठा है:

गौने के द्यौस सिंगारन को 'मतिराम' सहेलिनको गुन आयो।
कंचन के बिछुवा पहिरावत, प्यारी सखी परिहास बढायो॥
प्रीतम स्त्रौन समीप सदा बजै, यों कहिकै पहिले पहिरायो।
कामिनी कौल चलावनि को, कर ऊँचौ कियो पै चल्यो न चलायो॥
—मतिराम

उपर्युक्त परिहास मे नायिका द्वारा सखी पर प्रहार के लिए हाथ उठाने और पुनः लजाकर वैसा नही करने मे विश्वसनीयता तो है ही, पारिवारिक स्वस्थता भी है। राधा और कृष्ण का यह विनोद भी बड़ा ही सरस है:

कान्ह कह्यो टेरिकै, कहाँ ते आई, को हो तुम, लागती हमारे जान कोई पहचानती।
प्यारी कह्यो, फेरि मुख,हरिजू चलेई, जादु, हमैं तुम जानत, तुम्हें हू हम जानती॥

—देव

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में एक ओर तो शृंगार के संयोग पक्ष का यह रूप है जो वासनात्मक स्थितियों से घिरा हुआ है। दूसरी ओर वह रूप भी उपलब्ध है जिसमें स्वस्थ गार्हस्थ्य भी मिलते हैं। ये गार्हस्थ्य चित्र पूरी तरह घरेलूपन लिए हुए हैं, किन्तु विलासप्रियता यहां भी मौजूद है। मतिराम के काव्य में इस प्रकार की स्थितियों को बखूबी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए यह अंश देखिए :

केलि कै रात अघाने नहीं, दिनही मे लला पुनि घात लगायो।
प्यास लगी कोऊ पानी दे जाइयो, भीतर बैठि के बात सुनायो॥

जेठी पठाई गई दुलही, हेरि हरि 'मतिराम' बुलायो।
कान्ह कै बोल पै कान न दीनो, सुगेह की देहरि पै धरि आयो॥

—मतिराम

रीतिकालीन शृंगार में संयोग के गार्हस्थिक प्रेम की ओर संकेत करते हुए यह भी कहा जा सकता है कि ऐसे चित्र मतिराम के अलावा देव की रचनाओं मे भी मिलते हैं। नायकों की रसिकता अपनी पत्नियों के साथ किए गए उचित-अनुचित प्रेम-व्यवहार मे प्रायः बाहर नही जा पाई है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि परकीया और सामान्या के प्रेम का वर्णन रीति-कवियों ने किया है किन्तु यह भी स्मरणीय है कि इन कवियों को यह वर्णन अपने नायिका-भेद विवेचन को पूर्णता प्रदान करने के लिए करना पड़ा है। डॉ. महेन्द्रकुमार का मत है कि 'सामान्या प्रेम विषयक जितने भी छन्द इन लोगो ने रचे हैं उनमें प्रभावशक्ति इसलिए नही आ पाई कि इसमें इतना मनोयोग नही रहा। परकीया प्रेम-वर्णन में ये लोग यद्यपि औत्कट्य एवं मार्मिकता का सन्निवेश कर गये हैं जिससे एतद् विषयक रचनाओं मे सरसता और मार्मिकता आ गयी है।[6] तथापि उनका अन्तिम निष्कर्षात्मक प्रभाव यही रहा है कि 'कोऊ कितैक उपाय करो, कहूँ होत है आपुने पीव पराये' (मतिराम)।

रीतिकालीन शृंगारिता मे संयोग के साथ ही वियोग वर्णन को भी नहीं भुलाया जा सकता है। रीतिकवियों के वियोग-वर्णन मे पूर्वराग, मान, प्रवास और करुणा का अंकन मिलता है। पूर्वराग मे वियोग की तीव्रता तो सम्भव है, किन्तु प्रवासजनित वेदना का गाम्भीर्य नही होता है। पूर्वानुरागिनी तो मुग्धाएँ होती हैं और इनकी पीड़ा को रीतिकवियो ने बड़े कौशल से प्रस्तुत किया है। विरह-वर्णन की सभी काम-दशाएँ रीति-काव्य मे प्रचुरता से मिल जाती हैं। इन कवियो के

वियोग-निरूपण में रूपासक्ति प्रमुख रही है। स्पष्टीकरण के लिए मतिराम का यह उदाहरण लिया जा सकता है :

> क्यों इन आँखिन सों निरसंक ह्वै मोहन को तन-पानिप पीजै।
> नेकु निहारें कलंक लगै इहि गाँव बसैं कहो कैसे के जीजै।
> होत रहे मन यों "मतिराम" कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
> ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा रस पीजै॥ मतिराम

पद्‌माकर के काव्य में भी इस प्रकार के चित्र पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलते हैं जिनमें वियोग की विविध काम-दशाएँ चित्रित हुई हैं। स्मृति और गुण कथन जैसी मानसिक दशाओं के वर्णन के सहारे इन कवियों ने अवचेतन मन के रहस्यों को उद्‌घाटित किया है। पद्‌माकर की नायिका "छलिया छबीलो छैल छाती छ्वै चलो गयो" जैसी पंक्ति में एक ओर नायक का गुण कथन भी कर रही है और दूसरी ओर अपनी मनोदशा का अभिव्यंजन भी। रीतिकाल में प्रणयमान के चित्र भी देखने को मिलते हैं और खण्डिता नायिकाओं का वर्णन भी प्रचुरता से किया गया है। इस युग के काव्य में प्रवास-वर्णन के अन्तर्गत गाम्भीर्य की कमी है। इन कवियों ने प्रवत्स्यतपतिका, प्रोषितपतिका आगतपतिका के वर्णन में सदेश प्रेषण, पत्र-लेखन और चित्र-लेखन जैसी क्रियाओं को भी चित्रित किया है। प्रवास-जनित पीड़ा के अंकन में कहीं-कहीं विहारी जैसे कवियों ने ऊहा का भी सहारा लिया है।

रीतिकालीन कवियों ने नायिका के विरह-ताप का विशद् वर्णन करते हुए ऐसी-ऐसी अतिशयोक्तियाँ एवं ऊहाएँ की हैं कि स्थिति हास्यास्पद भी हो गयी है। उदाहरण के लिए देव कवि की ये पंक्तियाँ देखिए—

> लाल विदेश वियोगनि बाल, वियोग की आगि जई झूरि भूरी।
> पान सो पानी सों प्रेम कहानी सो, प्रान ज्यों प्राननि यों मत हूरी।
> "देवजू" आजू ही ऐवे की औधि, सु बीतति देखि बिसेसि बिसूरी।
> हाथ उठायो उड़ाइवे को उड़ि काग गरे परि चारिक चूरी॥

वियोग में नायिका अति कृश और दुर्बल हो गयी है। काग उड़ाने के लिए नायिका हाथ ऊपर उठाती है और उसकी चूड़ियाँ काग के गले में पड़ जाती हैं। नायिका को घड़ी का पेन्डुलम बना देना, विरह ताप के कारण शीशी के गुलाबजल का सूखकर भाप बनकर उड़ जाना जैसी कल्पनाएँ भी विरह-प्रसंग में प्रयुक्त ऊहाओं का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। उदाहरणार्थ—

> आड़े दै आले बसन, जाड़े हूँ की राति।
> साहस कै कै सनेह बस, सखी सबै ढिग जाति॥ —बिहारी

उपर्युक्त स्थिति जीवन में वस्तुतः प्रशंसनीय है। जहाँ कवियों ने ऊहा को छोड़कर प्रवासजन्य अवसाद का चित्रण किया है, वहीं स्वाभाविकता आ गयी है—

भजौ न प्राण् सहज रंग, बिरह दूबरे गात।
अबही कहा चलाइयत, ललन चलन की बात॥ —बिहारी

पर समस्त युग में विरह के ऐसे वर्णन कम ही हैं जो शरीरी प्रतिक्रियाओं को छोड़कर संवेदनात्मक हो सके हैं। रीतिकाल के ये वर्णन शृंगारिकता की सही प्रवृत्ति के प्रमाण नहीं माने जा सकते हैं। वस्तुतः शृंगारिकता कोई दोष नहीं होती है, दोष है शृंगारिकता का निर्जीव एवं हास्यास्पद रूप। इस संदर्भ में रामधारीसिंह दिनकर का यह कथन महत्व रखता है—"रीतिकाल का दोष उसकी शृंगारिकता नहीं, वहो निर्जीवता और नकलीपन है। विद्यापति और चंडीदास कम शृंगारिक नहीं हैं, किन्तु उनकी शृंगारिता के पीछे उनका प्रेम उपस्थित है वह वासना उपस्थित है जो पुरुष में नारी के लिए और नारी में पुरुष के लिए विद्यमान रहती है। इस वासना की अभिव्यक्ति की सचाई और सीधापन विद्यापति के शृंगार को स्वाभाविक बनाये हुए है।

ततहि धायोल दुहु लोचन रे,
जतए गेलि वर नारि।
आसा लुबुध न तेजइ रे,
कृपनक पाछु भिखारि।

यह शृंगार की कविता है और इसकी महिमा का कारण ही यह है कि यहाँ कवि ने अपनी वासना को छिपाने की चेष्टा नहीं की है, किन्तु रीतिकाल में ऐसी स्वाभाविकता नहीं मिलती। यहाँ बराबर राधाकृष्ण अथवा आश्रयदाता राजा की आड़ ली जाती है।"[7]

रीतिकाल की शृंगारिकता के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह सामने आती है कि इन कवियों ने शृंगार भावना के अन्तर्गत इस बात पर विशेष ध्यान रखा है कि शरीर-सुख महत्वपूर्ण है और विलास के सभी उपकरण ही जीवन के लिए आनन्दप्रदायक हो सकते हैं। यही कारण है कि संयोग के नग्न-से-नग्न चित्रों और नायिकाओं की विभिन्न धृष्टताओं व नायकों की चपलता, वाचालता और बेशर्मी के विभिन्न रूप इस काल के कवियों की रचनाओं में मिलते हैं। ऐसी स्थिति में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि रीति कवियों की शृंगारिकता में सामान्य रूप से इन्द्रियदमन जन्य कुण्ठा का अभाव, शारीरिक सुख की साधना, अनेकोन्मुख प्रेमजन्य विलासिता, रूप-लिप्सा, भोगेच्छा, नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि तथा गार्हस्थिकता के गुण-दोषों के रहते हुए भी एक ताजगी अवश्य है और यह ताजगी काव्यशास्त्रीय नियमों के घेरे में बन्द रहकर भी साधारण पाठक को एक क्षण के लिए ही सही, आत्मविभोर कर सकती है।[8]

आचार्यत्व प्रदर्शन—

रीतिकाल के अन्तर्गत रीतिनिरूपण की व्यापक प्रवृत्ति और घोर शृंगारिकता के साथ-साथ एक प्रमुख प्रवृत्ति के रूप में आचार्यत्व प्रदर्शन की प्रवृत्ति को भी लिया जा सकता है। लोगों ने लक्षण-लक्ष्य के मध्य समन्वय का कार्य किया है। लक्षण-निरूपण के नाम पर संस्कृत के साहित्य-शास्त्रों का, विशेषतः अलंकार, रस और नायक-नायिका भेद आदि का अनुवाद कार्य पर्याप्त मात्रा में हुआ है। इस काल के कवियों के आचार्य-कर्म को देखकर उस पर अनेक दोष लगाये गये हैं। कहा गया है कि आचार्यत्व प्रदर्शन के कारण रीतिकालीन कविता में सूक्ष्म विवेचन की कमी है, काव्यांगों के विशद् विवेचन का अभाव है तथा संस्कृत के उत्तरकालीन ह्रासोन्मुख शास्त्रीय ग्रन्थों को आधार मानना एवं लक्षणों की तुलना में उदाहरण प्रस्तुति पर अधिक ध्यान देना जैसे प्रमुख दोष उल्लेखनीय हैं। आचार्यत्व को लेकर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डॉ. श्यामसुन्दरदास एवं डॉ. भगीरथ मिश्र ने भी अपने-अपने मत दिए हैं। आचार्य शुक्ल का मत प्रायः मान्य रहा है। उन्होंने कहा है—

"हिन्दी में लक्षणग्रन्थों की परिपाटी पर रचना करने वाले सैंकड़ों कवि हुए है, वे आचार्य की कोटि में नही आ सकते। वे वास्तव में कवि थे।........इन रीतिग्रन्थों पर निर्भर रहने वाले का ज्ञान कच्चा और अधूरा ही समझिए। इन रीतिग्रन्थों के कर्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना।"[9] डॉ. श्यामसुन्दर दास का भी विचार है कि "आचार्यत्व और कवित्व के मिश्रण ने भी ऐसी खिचड़ी पकायी जो स्वादिष्ट होने पर भी हितकर न हुई। आचार्यत्व में संस्कृत की बहुत कुछ नकल की गयी और वह भी एकांगी।"[10] "हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास" में डॉ. भगीरथ मिश्र ने निष्कर्ष दिया है कि "इन हिन्दी लक्षणकारों या रीति ग्रन्थकारों के सामने कोई वास्तविक काव्यशास्त्रीय समस्या नहीं थी। इनका उद्देश्य विद्वानों के लिए काव्यशास्त्र के ग्रन्थों का निर्माण नहीं था, वरन् कवियों और साहित्यरसिकों को काव्यशास्त्र के विषयों से परिचित कराना था।"[11]

उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में यह आसानी से कहा जा सकता है कि आचार्यत्व की दृष्टि से रीतिकालीन कवियों की कोई विशेष उपलब्धि सामने नही आती है। इन्होंने जो आचार्यत्व दिखलाया है, वह [illegible] मात्र है।

क्षेत्र में अन्य कवियों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की है। चिन्तामणि, जैसे कवि भी आचार्यत्व-प्रदर्शन के क्षेत्र में अपेक्षाकृत सफल दिखाई देते हैं।

नारी भावना—

समूचे रीतिकाल को देखने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काल के कवियों ने शृंगारिकता के साथ ही नारी भावना को भी अभिव्यक्ति प्रदान की है। यदि सूक्ष्मता से विचार करें तो यह भी कहा जा सकता है कि रीतिकालीन कवियों की वृत्ति जितनी अधिक नारी निरूपण में रमी है उतनी अधिक पुरुष सौंदर्य आदि में नहीं। नारी निरूपण के दौरान इन्होंने नारी का जो स्वरूप चित्रित किया है, वह एक विलासिनी नारी का है। समूचे रीतिकाल में नारी के विलासी रूप के अतिरिक्त गृहिणी, जननी, देवी, भगिनी जैसे रूपों का प्रायः अभाव है। ऐसा लगता है कि रीतिकालीन कवियों के पास नारी को देखने का जो चश्मा था, उसमें नारी का शारीरिक गठन, उसका स्थूल सौंदर्य और वह भी भोगपरक सौंदर्य ही समा पाता था। यही कारण है कि इन कवियों की नारी भावना इनकी मनोव्यग्रता का परिचय देती है। देव ने तो स्पष्ट कहा था कि नारी विलास का उपकरण मात्र है। वे लिखते हैं—

> कौन गनैं पुर नगर बन कामिनी एकै रीति।
> देखत हरै विवेक को, हरे चित्त कर प्रीति॥

नायिका भेद का विस्तार स्पष्ट रूप से नारी के भोग्य रूपों का ही विस्तार है। नारी के उपभोगपरक अथवा भोगप्रधान स्वरूप को देखकर स्पष्ट हो जाता है कि रीतिकाल के कवि स्वकीया के साथ की गयी रति-क्रीड़ा को पुरुषों का जन्म-सिद्ध अधिकार मानते ही थे, परकीया के प्रति की गयी वासनात्मक क्रीड़ा को भी औचित्य की दृष्टि से देखते थे। रीतिकालीन समाज में पुरुषों को एक से अधिक नारियों से यौन-सम्बन्ध रखने की छूट थी। कुछ लोग ऐसे अवश्य थे जो छूट को उचित नहीं मानते थे, किन्तु ऐसे व्यक्तियों की संख्या अधिक थी जो इस परकीया प्रेम अथवा परकीया सम्बन्ध में कोई अनौचित्य नहीं देखते थे। यही कारण है कि पुरुषों के लिए पड़ौस में रहने वाली नारियाँ भगिनी, देवी, माँ न होकर मात्र प्रेमि-काएँ होती थीं। इस संदर्भ में कहा जा सकता है कि "सबसे ज्यादा खराब स्थिति पड़ोस की थी। वह बदतर था। प्रत्येक पड़ोस की नजर में उसकी पत्नी किसी दूसरे की प्रेयसी और पड़ोस की भाभियाँ रंगरेलियों का साधन थी। तभी तो कहीं भाभी देवर के प्रेम में पागल है। (ऐसी भाभियाँ कम थी जो देवर की कुटिलता से अपने धर्म को बचाने के प्रयत्न में पिंजरगत पक्षी की तरह दिन-दिन सूखती जाती थी।) तो कहीं शंकित हैं, कहीं बहिन बनाकर प्रेम की लीला चल रही है और कहीं ज्योतिषी की प्रसन्नता का कारण पितृ-मारक योग वाला जारज पुत्र है। समाज

की यह विघटित स्थिति सतसई में बखूबी देखी जा सकती है। बिहारी की प्रांख मध्यम वर्ग पर थी जरूर, किन्तु उस पर पड़ी सामन्ती छाया भी अनदेखी नहीं की जा सकती है। यह सही है कि उच्च वर्ग में रति और काम-क्रीड़ा के विषय में कोई सकोच और भय नहीं था। वे जो भी करते-धरते थे खुले-खजाने और उनका आचरण "खडा मेल फर्रुखाबादी" का उदाहरण था, परन्तु मध्यम वर्ग में यह काम-क्रीडा शका और हल्का भय भी, जो पारिवारिक अधिक था, लिए हुए थी।"[12]

रीतिकालीन कविता के अन्तर्गत नारी पुरुष के रतिभाव का आलम्बन मात्र बनकर रह गयी है। इसके अतिरिक्त इसका कोई अपना व्यक्तित्व है, सामाजिक अस्तित्व भी है, इसका ज्ञान रीतिकालीन कविता को पढकर नहीं हो पाता है। रीतिमुक्त कवियों में घनानन्द के स्वच्छन्द प्रेम से परिपूर्ण कवित्तों और सवैयों में भी सुजान से मिलने की आतुरतापूर्ण तड़पन है किन्तु उसका कोई सामाजिक रूप वहाँ भी वर्णित नहीं है। यही स्थिति रीतिबद्ध कवि देव, मतिराम आदि के काव्य की है जिसमें नारी जीवन के व्यापक क्षेत्र चित्रित ही नहीं हुए हैं। वहाँ एक मात्र नारी-देह की शोभाओं एवं चेष्टाओं का अभिव्यंजन ही हुआ है। ऐसा लगता है कि अंग-प्रत्यंग की शोभा, हाव-भाव, विलास-चेष्टाएँ आदि ही नारी-वर्णन के प्रमुख विषय रहे हैं। कृष्ण की शृंगारकालीन राधा मात्र नायिका है। ब्रजप्रदेश के गाँवों में सामाजिकों के बीच उसकी कोई भूमिका नहीं दिखाई देती है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उचित टिप्पणी की है कि "रीतिकाल में नारी कोई व्यक्ति या समाज के संगठन की इकाई नहीं है, बल्कि सब प्रकार की विशेषताओं के बंधन से यथा संभव मुक्त विलास का एक उपकरण मात्र है। इतना ही नहीं यह भी स्पष्ट है कि नारी की विशेषता इन कवियों की दृष्टि में कुछ भी नहीं है। वह तो केवल पुरुष के आकर्षण का केन्द्रभर है।"[13]

रीतिकालीन काव्य इस बात की भी सूचना देता है कि उस समय पुरुष को अच्छी-खासी छूट मिली हुई थी। वह जो चाहे कर सकता था और जब चाहे जिस स्त्री के साथ सम्भोग करके रात-रात भर गायब रह सकता था। स्त्रियों को ऐसे पुरुषों से कुछ भी कहने का अधिकार नहीं था। इसे हम पुरुष-प्रधान समाज की मनमानी और वासनात्मक मनोवृत्ति का सूचक कह सकते है—'पुरुष की छूट का एक और नमूना यह है कि वह रात भर परनारी के साथ सम्भोगोपरान्त प्रातःकाल रात्रिजागरण और रति के चिह्नों को लेकर स्वकीया के सम्मुख ढीठ बनकर खड़ा हो सकता है, उसे चिढा सकता है, उत्तमा को इतना भी अधिकार नहीं है कि उसके अनिष्ट की तनिक भी कल्पना करे, क्योंकि मध्यमा अथवा अधमा जो उसे बन जाना पड़ेगा। इससे बढ़कर तानाशाही और क्या हो सकती है? 'अमात्यस्तु रमामास." के अनुसार, मानवती मानकर पुरुष को थोड़ी देर के लिए तड़पा भले

हीं लें, पर उसे मन की शांति करनी होगी। आवेशाधिक्य में क्रोधाभिभूत हो नायिका यदि पुरुष को घर से निकाल भी देती है, तो उसे कलहान्तरिता बनकर पश्चाताप करना ही पड़ेगा, पर बेचारे नायक के लिए दुर्भाग्य (सौभाग्य) कहां? अस्तु, यह निश्चयपूर्वक कहा जाएगा कि लेखनी का धनी पुरुष (कवि) जब नायिकाभेदादि का सविस्तार निरूपण कर रहा था, तो उसकी दृष्टि स्वार्थसिद्धि की ओर टिकी थी। ऐसे अवसर पर यदि पुरुष अपने अनुकूल सिद्धान्त का निर्माण नहीं करता, तो यह भी उसका दुर्भाग्य ही होता।[14]

इस युग की नारी भावना पर विचार करते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है—"रीतिकालीन कवियों का नारी के प्रति दृष्टिकोण सर्वथा सामन्तीय है जिसके अनुसार वह समाज की एक चेतन इकाई न होकर बहुत कुछ जीवन का एक उपकरण मात्र है।"[15] और, छायावादी कवि पन्त ने इस युग की नारी-भावना को ही ध्यान में रखकर घोषणा की थी—

जीवन के उपकरण सदृश नारी भी कर ली अधिकृत।

इस विवेचन के आधार पर यही निष्कर्ष सामने आता है कि रीति-कालीन कवियों की नारी-भावना न तो उदात्त कही जा सकती है, न उसे मर्यादित कहा जा सकता है और न उसे कोई और अच्छा नाम ही दिया जा सकता है। उसके विषय में तो यही कहना उचित प्रतीत होता है कि रीतिकालीन कवियों की नारी के प्रति सामन्तीय दृष्टि रही है। उसे मात्र विलासपूर्ति का माध्यम माना गया है। नारी के बाह्य रूप की परिचायक अंग-यष्टि का खुलकर वर्णन भी इसी स्थिति को सूचित करता है। वास्तव में यही लगता है कि जैसे न केवल कवि अपितु पूरा का पूरा समाज नारी को वासनापूर्ति का माध्यम मानता था।

प्रेम भावना :

प्रेम वह अनुकूल वेदनीय मनोवृत्ति है जो किसी व्यक्ति, अन्य जीव या पदार्थ के सौंदर्य, गुण, शील, सामीप्य आदि के कारण उत्पन्न होती है। व्यापक अर्थ में मनोवृत्तियां दो प्रकार की होती है—अनुकूल वेदनीय और प्रतिकूल वेदनीय। अनुकूल वेदनीय मनोवृत्तियों के अन्तर्गत सुखद अनुभूतियों की गणना की जाती है और प्रतिकूल वेदनीय मनोवृत्तियों की कोटि में जीवन की दुखद अनुभूतियां आती है। अनुकूल वेदनीय मनोवृत्ति आकर्षणमूलक होती है तो प्रतिकूल वेदनीय मनोवृत्ति विकर्षणमूलक।[16] कहने की आवश्यकता नहीं कि अनुकूल वेदनीय अनुभूति ही प्रेमानुभूति कहलाती है। प्रेम एक पवित्र भाव है, दो व्यक्तियों के परस्पर आकर्षण से उत्पन्न भाव है अतः इसका सम्बन्ध सौंदर्य से भी है और मानसिक अवस्था से भी। जब व्यक्ति परस्पर आकर्षित होते हैं तो आकर्षण के दौरान सौंदर्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। ध्यान रहे कि जो आकर्षण मात्र बाह्य सौंदर्य पर केन्द्रित होता है, वह स्थाई प्रेम को जन्म नहीं दे पाता है। प्रेम

तभी प्रेम बन पाता है जब सौंदर्य के आकर्षण को झेलता हुआ वह मन की गहराइयों में उतर जाता है। प्रेम के अन्तर्गत शरीर, मन और आत्मा का तादात्म्य आवश्यक होता है। रीतिकालीन कविता के अन्तर्गत प्रेम का स्वरूप जिस रूप में अभिव्यंजित है, वह रूप सही अर्थ में प्रेम नहीं कहा जा सकता है।

प्रेम एक सामाजिक स्वरूप लेकर मन की गहराइयों में उतरता हुआ जब दो व्यक्तियों को परस्पर बांध लेता है, तभी वह प्रेम बन पाता है। रीतिकाल को आद्यन्त पढ़ने के बाद यह तो स्पष्ट होता है कि नायक-नायिका एक आकर्षण सूत्र में बन्धे हुए है, किन्तु यह स्पष्ट नहीं होता कि यह आकर्षण कहीं गहरे तक दोनों को बांधे हुए है। केवल यही लगता है कि यह प्रेम का वासनात्मक रूप है, नायक का नायिका के पुष्ट वक्ष, रक्तिम मुख एवं नेत्रों आदि तक ही सीमित होता, तो कुछ बात बन सकती थी, किन्तु यहाँ तो वह प्रेम चित्रित है जो सीधा शरीर-भोग में जुड़ जाता है। ऐसी स्थिति में यही कहना उचित प्रतीत होता है कि रीतिकालीन कवियों की प्रेम-भावना में प्रेम का वह रूप नहीं है जो विश्वसनीय हो, सामाजिक भूमिका पर विवेचनीय हो और पात्रों के व्यक्तित्व की किसी उल्लेख्य विशेषता का द्योतक हो। प्रेम यहाँ विलास का रूप धारण करके इतना हल्का हो गया है कि उसे प्रेम कहने में भी संकोच होता है।

रीतिकाल के परकीया प्रेम का बाहुल्य सामाजिक प्रतिबंधों के शैथिल्य का द्योतक है। रीतिकाल में भारतीय सांस्कृतिक जीवन का जितना शीघ्रतापूर्वक ह्रास हुआ, उतना शायद ही किसी काल में हुआ हो। नायक की प्रेम सम्बन्धी नैतिकता का वर्णन भी यही सूचित करता है कि वहाँ नैतिकता है ही नहीं। देव ने परकीया प्रेम को जिस तरह सैद्धान्तिक दृष्टि से अच्छा नहीं माना है उसी तरह मुग्धा आदि, वयभेद, मान, सुरत और सुरतान्त का वर्णन भी उत्तम नहीं माना है। रीतिकाल में कुछ ऐसे कवि भी हुए है जिन्होंने परकीया प्रेम की निन्दा की है। ऐसे कवियों में तोष का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि देव भी परकीया प्रेम के खिलाफ थे फिर भी उन्होंने कुछ ऐसी उक्तियाँ कह दी है जिनसे परकीया प्रेम का समर्थन होता है। रीतिकाल में जितने भी कवि हुए हैं उनमें रीतिबद्ध कवियों का प्रेम निरूपण वासनात्मक अधिक है। जहां तक रीतिमुक्त कवियों का प्रश्न है, उनके प्रेम निरूपण में प्रेम-चित्र अपेक्षाकृत नैतिक अधिक है। डॉ. बच्चनसिंह का यह मत उल्लेखनीय है—

"इन कवियों ने प्रेममार्ग के कथित प्रतिबन्धों की खुली अवहेलना की है। लोकलज्जा की उपेक्षा करते हुए भी परकीया प्रेम का वासनात्मक चित्र उपस्थित करना इन कवियों का अभिप्रेत नहीं था। सास, ननद, देवर, भाभी आदि की नजर बचाकर कुंज, वन, उपवन या पनघट पर यार से मिल लेना कभी भी नैतिक

नहीं कहा जा सकता। प्रेम के लिए लोकलज्जा और परलोक की चिन्ता तक विस्मृत कर देना सर्वथा नैतिक है।"[17] बोधा ने डंके की चोट कहा है—

> लोक की लाज औ सोच प्रलोक की वारिये प्रीति के ऊपर दोऊ।
> गांव को गेह को देह को नातो सनेह मे हांतो करै पुनि सोऊ।
> "बोधा" सुनीति निवाह करै घर ऊपर जाके नही सिर होऊ।
> लोक की भीति डेरात जो मीत तो प्रीति के पेड़े परै जनिकोऊ।

यदि अपवादों की बात छोड़ दी जाये तो यही कहा जा सकता है कि रीतिकाल के अधिकांश कवि प्रेममार्ग के सफल कवि नहीं हैं। कारण यह है कि रीतिबद्ध कवियों ने प्रेम और वासना को मिला दिया है। अधिकांश साहित्य इस बात का साक्ष्य प्रस्तुत करता है कि प्रेम ही वासना है और शारीरिक भोग ही प्रेम है। रीतिकाल के स्वच्छंद मार्गीय कवि इसके अपवाद हैं। घनानन्द तो स्पष्ट कहते हैं कि प्रेम का मार्ग सीधा और सरल होता है। वह एक प्रशस्त राजमार्ग है अतः उस पर वे लोग ही प्रेमयात्रा कर सकते हैं जिनका हृदय निःशक, कपट रहित और स्वार्थ-वासना रहित है। घनानन्द की यह प्रेम-विषयक व्याख्या बोधा, ठाकुर, आलम जैसे कवियों पर भी लागू होती है। स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों की त्याग और तपश्चर्यामूलक प्रेम सम्बन्धी रोमानी दृष्टि निश्चय ही एक नूतन, नैतिक व्यवस्था और उदात्त आदर्श की प्रतिष्ठापिका कही जा सकती है।

यदि थोड़ी देर के लिए बिहारी सतसई को ध्यान में रखें तो कहा जा सकता है कि बिहारी का प्रेमादर्श ऐसा नहीं था जैसाकि घनानन्द आदि का रहा है। वे प्रेम को महत्व तो देते हैं, किन्तु उनकी प्रेम-भावना में शरीर का अंश अधिक है, मन का कम। अपवादस्वरूप कुछ पंक्तियाँ अथवा दोहे ऐसे अवश्य मिल जाते हैं जो बिहारी की प्रेमभावना के मानसिक पक्ष को व्यक्त करते है।

उदाहरणार्थ :

> कहा भयो जो बीछुरे, मो मन तो मन साथ।
> उड़ी जाय कितहू गुडी, तऊ गुड़ाइक हाथ॥
> कागद पर लिखतन बनत, कहत संदेस लजात।
> कहिहै सब तेरो हियो, मेरे हिय की बात॥

इन उपर्युक्त दोनों दोहों में प्रेम का अपेक्षाकृत स्वच्छ रूप चित्रित हुआ है। किन्तु ऐसे दोहे बिहारी सतसई में ढूंढने पडते हैं, जबकि रीतिकाल के ही घनानन्द, बोधा और ठाकुर के काव्य में ऐसी पंक्तियाँ प्रचुरता से मिल जाती हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर हमारा निष्कर्ष यही है कि रीतिकाल मे नारी के प्रति उपभोगपरक दृष्टि की प्रधानता के कारण अधिकांश कवियों ने प्रेम को वासना मे मिला दिया है। इस दिशा में स्वच्छन्दमार्गीय कवि अवश्य अलग

पडते है। समूचे रीतिकाल का जो समग्र प्रभाव पड़ता है, वह प्रेम भावना के धरातल पर बहुत अच्छा और प्रभावी नही माना जा सकता है। प्रेम के संदर्भ से जिस एकनिष्ठता, पारस्परिक सदाशयता और स्थाई आकर्षण की बात कही जाती है, वह रीतिकाल मे यत्र-तत्र ही देखने को मिलता है, सर्वत्र नही।

प्रकृति-निरूपण

रीतिकाल मे प्रकृति का चित्रण नही, अपितु ऋतुओं का वर्णन ही हुआ है। ऋतुवर्णन मे भी कवियो ने प्रकृति का बिम्बग्राही रूप अंकित नहीं किया है। यदि सेनापति के तथा प्रकीर्ण रूप से किये गये अन्य कवियों के कुछेक वर्णनो को हटा दिया जाय तो निरपेक्ष प्रकृति वर्णन कही भी नही रह जायगा। प्रकृति के सापेक्ष वर्णनो मे मूलत. होली (वसन्त) और वर्षा के ही वर्णन मिलते है। ग्रीष्म, हेमन्त और शरद के वर्णन अपेक्षाकृत कम है। होली के "हुरदंग" के वर्णन पद्माकर ने अधिक किये हैं। कवियो ने प्रकृति का वर्णन मूलतः उद्दीपन रूप मे ही किया है। वसन्त के आते ही 'औरे मन, औरे तन, औरे वन" तो हो ही जाते है. उसकी छवि के फैलने के साथ ही नायिकाएँ छलिया, छबीले और छैल का चुनाव भी कर लेती है। होली के "हुरदंग" का माधुर्य बिहारी, देव, मतिराम, बेनीप्रवीन, ग्वाल इत्यादि ने तो वर्णित किया ही है, पर पद्माकर का यह वर्णन अपने ढंग का है :

> फागु के भीर अभीरन तें गहि, गोविंदै लै गई भीतर गोरी।
> भाई करी मन की "पद्माकर", ऊपर नाइ अबीर की झोरी।
> छीनि पीतम्बर कम्मर तें, सुबिदा दई मीड कपोलनि रोरी।
> नैन नचाइ कह्यो मुसकाइ, लला फिरि आइयो खेलन होरी॥

वसन्त मे पद्माकर जहाँ ऐसे हठीली नारियों की व्यवस्था करते है, वहा वे ग्रीष्म मे खसखाने और तहखाने की ही मरम्मत नही कराते, बल्कि बरफ, शीतलपाटी, अंगूरी आसव और अंगूर की टाटी भी जुटाते है। इतना होने पर भी उन्हे उस समय तक असंतोष ही है जब तक वे "अंगूर सों ऊँचो है कुच" की व्यवस्था न कर लें। इसी प्रकार उनका दावा है कि जिसके पास गुलगुली गिलमें, गलीचा, गुणीजन, मुबाला और दुशाला व प्याला है उसका शीत क्या बिगाड़ सकता है। संयोग वर्णन मे कवियो ने जहाँ ऋतुओं के सुखात्मक चित्र अंकित किये हैं, वियोग मे वे ठीक इसके विपरीत कथन करते हैं :

1–एरे मतिमंद चंद ! आवत न तोहि लाज, ह्वै के द्विजराज काज करत कसाई के।
—पद्माकर

2–विरही दुखारे, तिन पर दई मारे, मानों मेघ बरसत हैं अंगारे, आसमान तें।
—करनेस

रीतिकालीन काव्य मे प्रकृति-वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है। प्रायः सभी कवि प्रकृति वर्णन की ओर अग्रसर हुए है, किन्तु रीतिकालीन प्रकृति वर्णन आकर्षक कम है, उसमे वह प्रभाव-क्षमता नही जो आगे के पंत या पीछे के जायसी जैसे कवियो मे मिलती है। बिहारी ने वायु को नवोढ़ा रूप प्रदान कर सुन्दर वर्णन किया है—

> लपटी पुहुप पराग पर सनी स्वेद मकरंद ।
> आवति नारि नवोढ़ लो सुखद वायुगति मंद ॥

इसी प्रकार यह वर्णन भी देखिए—

> सघन कुंज छाया सुखद, सीतल मन्द समीर ।
> मन ह्वै जात अजौ ह्वै, वा जमुना के तीर ॥

रीतिकाल मे प्रकृति के उद्दीपन रूप की प्रधानता है। मतिराम की विरहिणी नायिका वर्षा ऋतु के आगमन पर कष्ट का अनुभव करती हुई काँप उठती है। देखिए—

> घुरवान की धावन मानो अनंग की तुंग ध्वजा फहराने लगी।
> नभ मंडल तें छिति मंडल छ्वै छिन जोत छटा छहराने लगी॥
> मतिराम समीर लगी लतिका विरही वनिता थहराने लगी।
> परदेस मे पीय संदेस नही चहूं ओर घटा घहराने लगी ॥

वियोग बेला में जो प्रकृति शरीर को ताप से जलाये डालती थी, वही संयोग के क्षणों मे सुखद बन जाती है। पद्माकर की नायिका को संयोग के क्षणों मे मोर का शोर, घनघोर और मेह वर्षा का सुखद दृश्य बड़ा ही सुहावना प्रतीत होता है—

> भौंरन को गुंजन बिहार वन कुंजन मे,
> मंजुल मलारन को गावनो लगत है।
> कहै 'पद्माकर' गुमान हूं तें, मान हू ते,
> प्राण हूं ते प्यारो मन भावनो लगत है।
> मोरन को सोर घन-घोर चहूं ओरन,
> हिंडोरक को वृन्द, छवि छावनो लगत है।
> नेह सरसावन में मेह बरसावन मे,
> सावन मे झूलबो सुहावनो लगत है ।

कहने की आवश्यकता नहीं कि रीतिकालीन काव्य में प्रकृति चित्रण नायक-नायिका के सौन्दर्य, हाव-भाव, प्रेम-क्रीड़ा आदि के प्रसंगों में किया गया है। यहां पर प्रकृति उपमानवत प्रयुक्त है। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों के निमित्त जिन उपमानो को अधिकांशतः लिया गया है वे प्रकृतिपरक ही हैं। इस

काल में प्रकृति चित्रण की स्वाभाविक पद्धति का विकास नहीं हो सका। राज-दरबारों में राजाओं की विलासी प्रवृत्ति की तृप्ति के निमित्त नायक-नायिकाओं को प्रकाश में लाने के अलावा इन कवियों के पास कोई अन्य काम ही न था।

सौन्दर्य भावना

कभी-कभी किसी रचना, किसी दृष्टि, किसी व्यक्ति और किसी चित्र को देखकर अचानक हमारे मुख से यह निकल पड़ता है कि कितना सुन्दर है। प्रश्न यह है कि ऐसा क्यों होता है कि हम सुन्दर को तुरन्त पहचान लेते हैं। हमारी दृष्टि में जहाँ-जहाँ आकर्षण है, सुखद अनुभूति है, वहा-वहां हम स्वत ही उसकी ओर झुक जाते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सौन्दर्य के मूल में आनन्द का भाव है और वह आकर्षणयुक्त होता है। इस प्रकार जो वस्तु या स्थिति अपने साहचर्य से हमे आत्मविभोर कर दे—डुवा दे वही सुन्दर कही जा सकती है। दूसरे शब्दों मे, जिससे हमे सुखद अनुभूति होती है वही सुन्दर है और उसमें सौन्दर्य के तत्व विद्यमान है। अनेक बार सौन्दर्य चक्षुग्राह्य होता है तो कई बार कर्ण, नासिका कपोल, नेत्र, स्तन व स्पर्श आदि के माध्यम से भी प्राप्त होता है। इस प्रकार सौन्दर्य है तो आनन्दजन्य, किन्तु उसकी प्रतीति के माध्यम अनेक हो सकते हैं।[18]

सौन्दर्य को कुछ लोग वस्तुनिष्ठ मानते हैं और उसका सम्बन्ध प्रत्यक्ष प्रतीति से जोडते है। इसके विपरीत कुछ ऐसे भी है जो उसे मनःप्रसाद या आध्यात्मिक क्रिया मानते हैं। वस्तुतः ये दोनों ही मत अतिवादी हैं। सौन्दर्य क्या है और उसका स्वरूप क्या है, इस विषय में यही कहा जा सकता है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध वस्तु और मन दोनो से होता है। कारण यह है कि वस्तु-सौन्दर्य की प्रतीति हमें मन द्वारा होती है, किन्तु यह तथ्य भी अविस्मरणीय नहीं कि उस वस्तु के सम्पर्क के लिए वस्तु तो अपेक्षित रहती ही है, सौन्दर्य सभी को ग्राह्य होता है और उसके ग्रहण मे अनेक तत्वों का उपयोग रहता है। इस विषय मे यह कहा जा सकता है—

'पहली स्थिति में हम वस्तु का साक्षात्कार करते हैं—इन्द्रिय सन्निकर्ष। दूसरी मे हम उससे आनन्दित होते हैं और तीसरी स्थिति मे उसे प्राप्त करने की चाह-बलवती हो उठती है। हम हजार दावे करें और कहने वाले कितने ही ऊपरी मन्तव्यों से क्यों न कहें कि सौन्दर्य देखने की चीज है—ग्रहण करने की नहीं, किन्तु यह सही नहीं है। सच बात यह है कि जो सौन्दर्य हमे आनन्दित करता है उसे हम अपने निकट से देखना चाहते है और नैकट्य ही इस बात का प्रतीक है कि हम उस पर समर्पित है। अत. यह कहना बेमानी बात है कि 'ब्यूटी इज टू सी नॉट टू टच' 'इस प्रकार यह कहना ठीक ही है कि सौन्दर्य के लिए वस्तु का प्रत्यक्षीकरण, उसका सामीप्य लाभ और मन का आनन्दित होना स्वाभाविक है।'

ये तीनों बातें सौन्दर्य को देखकर इतनी तेजी से घटित होती है कि कई बार इनका सम्मिलित भाव ही हमें आनन्द देता है और हम आकर्षित होकर सौन्दर्य पर समर्पित हो जाते हैं। वस्तुतः प्रत्यक्षीकरण के लिए अन्तःकरण और इन्द्रिय दोनों का वस्तु के साथ सामीप्य या सन्निकर्ष अपेक्षित है। इन्द्रिय एक प्रकार की शक्ति है जिसमें बाह्य वस्तु, ज्ञेय अथवा दृश्य से प्रभावित होने तथा उनको प्रभावित करने की क्षमता विद्यमान है। व्यक्तियों में सौन्दर्य-बोध की जो भिन्नता मिलती है, वह भी इस बात को प्रमाणित करती है कि सौन्दर्य का सम्बन्ध ऐन्द्रिय-प्रत्यक्ष से है।'[19]

यदि सौन्दर्य अथवा सौन्दर्यानुभूति के आधार पर हम रीतिकालीन कविता का मूल्यांकन करें तो दो दृष्टिकोण सामने आते हैं—पहला यह कि सौन्दर्य को कुछ कवियों ने परिस्थिति अथवा प्रसंग अथवा मन की तरंग से जोड़ा है। कुछ ऐसे है जिन्होंने सौन्दर्य को मात्र शारीरिक सौन्दर्य तक सीमित कर दिया है। बिहारी ने 'समय-समय सुन्दर सबै रूप कुरूप न कोय' कहा है। संस्कृत काव्य के अन्तर्गत सौन्दर्य के विषय में यह दृष्टि रही है कि सच्चा सौन्दर्य वह है जो नित्यप्रति नया-नया लगे। रीतिकाल में भी यह कहा गया है कि 'रावरे रूप की रीति अनूप, नयो-नयो लागत ज्यो-ज्यो निहारिये'। इस प्रकार ये कथन इस निष्कर्ष को सामने लाते हैं कि सौन्दर्य कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मात्र ऊपरी हो। उसका सम्बन्ध अन्तस से भी है। सच्चे सौन्दर्य का निरूपण वही कवि कर पाता है जो उसे शारीरिक सीमाओं के साथ-साथ आन्तरिक सीमाओं से भी जोड़ लेता है। समूचे रीतिकाल में कवि कहते कुछ भी रहे हों, किन्तु अधिकांश ऐसे रहे हैं जिन्होंने सौन्दर्य को शारीरिक सौन्दर्य से ही जाना, समझा और समझाया है। रीतिकाल में ऐसे कवियों की कमी नहीं है जो नायिका के मुख, केश, नितम्ब, वक्ष, कटि और नेत्रों आदि के सौन्दर्य वर्णन में व्यस्त रहे हैं। मानवीय सौन्दर्य के अन्तर्गत मुख की गढ़न, सुकुमारता और प्रसन्नता आदि का महत्त्व निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है। ठीक भी है कि किसी के साक्षात्कार के समय पहले-पहल चेहरे के सौन्दर्य का ही प्रभाव पड़ता है। हमारी चित्त-वृत्तियां अनेक आड़ी-तिरछी रेखाओं में चेहरे पर व्यक्त होती है।

रीतिकालीन कवियों ने प्रायः मुख-वर्णन की उपेक्षा की है। स्वतः मुख का सौन्दर्य पर्याप्त प्रभावोत्पादक होता है, किन्तु हाव-भाव, हेला, सात्विक अनुभाव आदि की दृष्टि से मुखमण्डल को महत्त्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता है। रीतिकाल में भोगेच्छासूचक प्रेम व्यापारों को व्यक्त करने के लिए प्रमुख रूप से आँखों की प्रेमोद्दीपक क्रियाओं का खूब वर्णन हुआ है। नाक और भौंहों की चेष्टाओं का भी उपयोग किया गया है। ऐसी स्थिति में मुखमण्डल के सौन्दर्य की उपेक्षा स्वाभाविक ही थी। अपवादस्वरूप कुछ कवियों ने चेहरे की कोमलता में माधुर्य की नियोजना की है और संयोग-शृंगार में चुम्बन के महत्त्व को देखते हुए अधरों में अमृत की माधुरी का वर्णन भी किया है। उदाहरणार्थ ये पंक्तियां देखिए—

वा मुख की मधुराई कहा कहौं, मीठी लगै अखियानि लुनाई। —मतिराम

देव मुख को अमृत का धाम मानकर कहते हैं—

सदन सुधा को सो बदन बसुधा को सुख,
छोम्यो छबि मुधा को मदन उमंग्यो परै॥

रीतिकाल के अन्तर्गत सौन्दर्य निरूपण मे केशो की लम्बाई, उनकी कोमलता, चिकनाहट आदि का वर्णन पर्याप्त मात्रा मे किया गया है। बिखरे हुए तथा वेणी के बन्धन में बधे हुए केशों की प्रभावोत्पादकता को बिहारी ने बड़ी कुशलता से प्रस्तुत किया है। उन्होने कुछ ऐसा वर्णन किया है कि बिखरे हुए लम्बे और सुकुमार बाल देखने वाले को अपने में उलझा लेते हैं। साथ ही जब वे काले चमकदार बाल वेणी का रूप ले लेते हैं तब मन को भी बाँध लेते है। इसी प्रकार मुख पर पड़ी हुई टेढ़ी लट उसके सौन्दर्य को कई गुना बढ़ा देती है।

यौवनोचित गुणों में सौकुमार्य का वर्णन संख्या में अधिक हुआ है। सौकुमार्य नायिका के रूप लावण्य की अभिवृद्धि के साथ उसके अभिजात्य का भी सूचक है। रसार्णवसुधाकर के अनुसार स्पर्श के न सहने योग्य कोमलता ही सौकुमार्य है। वहाँ पर इसके तीन भेद किए गए हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। जिसको पुष्पादि का संस्पर्श भी असह्य हो, वह उत्तम सौन्दर्य है। उत्तम सौकुमार्य के उदाहरण इस काल की कविताओ मे ढेर के ढेर मिल जाएंगे—

1. छाले परिबे के डरनि, सकै न हाथ छुवाय।
   झिझकत हिये गुलाब के, झँवा झँवावत पाय॥ —बिहारी

2. कोमल कमल के, गुलाबन के दल के।
   सुजात गढ़ि पाँयन बिछौना मखमल के॥ —पद्माकर

3. पानिप के भारन सँभारति न गात, लक।
   लचि-लचि जात कचभारन के हलकै॥ —द्विजदेव

रीतिकालीन कविता में जो सौंदर्य मिलता है, वह संचय और परिग्रह का सौंदर्य है। इसके विपरीत आज की कविता का सौंदर्य त्याग और अपरिग्रह का सौंदर्य है। जो नायिका पहले प्रमाधन और अलंकार से अंगो को सजाये बिना घर से बाहर पाँव नही रखती थी, वह अब सिर्फ इस भरोसे पर बाहर घूम रही है कि लोहू की स्वस्थ लाली से बढ़कर दूसरा सौंदर्य नही है।[20] रीतिकाल की सौंदर्य भावना के विषय मे हम यह कह सकते है कि यह वह काल है जिसे शरीर का काल कहा जा सकता है। ऐसी स्थिति में कवियो की सौंदर्यानुभूति की परिधि मे शारीरिक अंग-प्रत्यंग ही सिमट पाये हैं। मन के सौंदर्य को इस कविता मे प्राय स्वीकृति प्राप्त नही हुई है। रामधारीसिंह दिनकर ने लिखा है कि मतिराम,

घनानन्द जैसे ही कुछ कवि ऐसे हैं जो मन के सौंदर्य की बात कर पाये हैं। दिनकर का एतद्विषयक मत यहाँ अविकल उद्धृत किया जा रहा है—

"रीतिकाल को हम सिर्फ शरीर का काल कहते है, किन्तु मतिराम ने कहीं-कहीं मन के सौंदर्य की ओर बड़ा ही बेजोड़ संकेत किया है और जहाँ-जहाँ यह संकेत मिलता है वहाँ-वहाँ कविता खिसककर वर्तमान युग के हृदय के पास पहुँच जाती है। वट-सावित्री-पूजन का एक दृश्य है। नायिका वट के चारों ओर परिक्रमा कर रही है, किन्तु वट की यह परिक्रमा सिर्फ देह करती है, मन तो प्रियतम के चारों ओर घूम रहा है।"[20] मतिराम कहते हैं—

जमुना के तट बंसीवट के निकट
नन्दलाल पै सकोचन तें चाह्यौ ना परत है।
तन तो पिया को वर भाँवरे भरत
मन साँवरे बदन पर भाँवरे भरत है।

छायावाद पर लिखते हुए पंडित रामचन्द्र शुक्ल ने एक जगह कहा है कि हिन्दी कविता का एक स्वच्छन्द विकास स्वतः होता आ रहा था जिसकी रेखाएँ मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जगमोहनसिंह (श्यामा-स्वप्न-वाले) आदि की रचनाओं में मिलेंगी, किन्तु जब तक वह विकास पूर्ण हो, उसके पहले ही देश में रवीन्द्रनाथ की कविताओं की धूम मच गयी और लोग अपनी परम्परा को छोड़कर रवीन्द्रनाथ की ओर दौड़ पड़े और इस प्रकार हिन्दी में एक नयी परम्परा चल पड़ी, जो अपनी बनायी हुई कम, अन्यत्र निर्मित अधिक थी। रवीन्द्रनाथ का प्रभाव छायावाद पर पड़ा अवश्य है, किन्तु छायावाद के साथ हिन्दी कविता में जो एक नयी भंगिमा उत्पन्न हुई उसकी परम्परा हिन्दी में बहुत दिनों से आ रही थी। वह विद्यापति की "जनम अवधि हम रूप निहारल" वाली पंक्ति में थी, वह कबीर और मीरां की भी पंक्तियों में मिलेगी और सूर को विरहवाली पंक्तियों में भी हम उसकी झाँई देखते हैं। यही नहीं, आगामी शैली का पूर्वाभास तुलसीदास में भी मिलता है।

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई
छबिगृह दीपसिखा जनु बरई।
जहँ बिलोकु मृगसावकनैनी,
जनु तहँ बरसु कमल सितसैंनी॥

सौंदर्य-वर्णन में देव की कल्पना बड़ी सजग है और अनेक मनमोहक चित्रों को संगृहीत करने में वह सफल हुई है। एक गर्वस्वभावा स्वकीया के सौन्दर्य का चित्रण देखिए—

"गोरे मुख गोरहरे हँसत कपोल बड़े,
लोयन बिलोल बोल लोने लीन लाज पर।

सोभा लगे लाल लखि सोभा कवि देव छवि,
गोभा से उठत रूप सोभा के समाज पर।
बादले की सारी जरदावन किनारी,
जगमगी जरतारी झीनी झालरि के साज पर।
मोती गुहे कोरन चमक चहुँ ओरन,
ज्यों तोरन तरैयन की तानी दुनराज पर॥"

इसी प्रकार राधा और उनकी सखियाँ स्फटिक मंदिर में किस प्रकार शोभा पा रही हैं, 'देव' की कल्पना में आया उस शोभा का यह दृश्य भी देखिए—

फटिक सिलान सो सुधारयो सुधा मंदिर
उदधि दधि की सी अधिकाई उमगै अमंद।
बाहरि ते भीतर लौ भीति न दिखैये देव,
दूध कैसो फेन फैलो आँगन फरस बन्द
तारा सी तरुनि तामैं ठाढ़ी मिल मिलि होत
मोतिन की माल मिली मल्लिका को मकरंद।
आरसी के अम्बर में आभा सी उज्यारी लागे
प्यारी राधिका के प्रतिबिम्ब सो लगत चन्द॥

कहना यही है कि रीतिकालीन कविता में प्रचुरता तो, स्थूल सौन्दर्य-निरूपण की ही रही है, किन्तु अनेक स्थलों पर सौन्दर्य चेतना के सूक्ष्म, मनहरण और मनभावन चित्र भी मिलते हैं। ऐसे चित्र उतारने में देव, घनानन्द को विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

गौण प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियों के विवेचनोपरान्त जब उसकी गौण प्रवृत्तियों की ओर ध्यान जाता है तो कुछ ऐसी प्रवृत्तियाँ सामने आती हैं जो गौण हैं। ऐसी प्रवृत्तियों में भक्ति-भावना, नीतिपरकता, वीररसात्मकता एवं प्रशस्तिपरकता के साथ-साथ हास्य की प्रवृत्ति को भी लिया जा सकता है। ध्यान से देखें तो ये गौण प्रवृत्तियाँ किसी न किसी रूप में प्रायः सभी कवियों में मिल जाती हैं। अतः यहाँ इनका संक्षिप्त विवेचन किया जा रहा है।

भक्ति-भावना

रीतिकाल भक्तिकाल नहीं है और भक्तिकाल रीतिकाल नहीं था, फिर भी इन दोनों कालों में क्रमशः भक्ति और शृंगार की भावनाओं को अभिव्यक्ति प्राप्त हुई है। भक्तिकाल के अन्तर्गत भक्ति का जो स्वरूप सुरक्षित है, वह सही अर्थ में उस युग के कवियों की धार्मिकता और आध्यात्मिक चेतना को व्यक्त करता है।

उसे पढ़कर पाठक भी यह अनुभव करता है कि ये कवि सही अर्थों में सच्चे भक्त हैं। इसके विपरीत जब रीति-कवियों की ओर हमारा ध्यान जाता है तो ये कवि ऊपर से नीचे तक अथवा कहें कि आद्यन्त शृंगारी प्रतीत होते हैं। जिस प्रकार कोई बहुत कपटी या पापी अनेक दुष्कर्म करता हुआ भगवान की शरण मे इस भाव से जाता है कि शायद उसे मुक्ति प्राप्त हो जाय, ठीक वैसे ही रीतिकालीन कवियो की स्थिति रही है। इस काल का प्रत्येक कवि शृंगार की घोर रचनाएँ लिखने के बाद भक्ति की ओर उन्मुख हुआ है और वह भी सहज भाव से नहीं अथवा कहे कि सच्चे मन से नहीं। यही कारण है कि रीतिकालीन कवियों की भक्ति-भावना एक शरण भूमि प्रतीत होती है।

रीतिकाल के अन्तर्गत भक्ति के जो सोपान दिखलाई देते है, उनमे रामभक्ति और कृष्णभक्ति दोनो को स्थान प्राप्त हुआ है। सेनापति और मतिराम ने राम-भक्ति को अभिव्यक्त किया है तो बिहारी और देव आदि ने कृष्णभक्ति का प्रश्रय लिया है। वैसे यह स्थिति इन कवियों के काव्य मे बदलती भी रही है। भक्ति के अन्तर्गत जो श्रद्धा और जो सचाई अपेक्षित होती है, उसका अभाव रीतिकालीन भक्ति-भावना मे दिखाई देता है। डॉ. महेन्द्रकुमार ने ठीक ही लिखा है कि "भक्ति की प्रवृत्ति रीतिग्रन्थों के मंगलाचरणो, ग्रन्थो की परिसमाप्ति पर आशीर्वचनो, भक्ति और शान्त रसों, निर्वेदादि संचारियों तथा अलंकार-विवेचन सम्बन्धी ग्रन्थों में दिये गये उदाहरणो मे मिलती है। सामान्य रूप से विष्णु के राम और कृष्ण—इन दो अवतारी रूपों मे विशेष आस्था रखते हुए भी ये लोग गणेश, शिव और शक्ति में भी वैसी ही श्रद्धा रखते थे। अतः कहा जा सकता है कि ये लोग किसी विशिष्ट सम्प्रदाय के अनुयायी नही थे—ईश्वर की विभिन्न शक्तियों के रूप मे आज साधारण आस्तिक हिन्दुओं मे देवी-देवताओं के प्रति जो श्रद्धा और भक्ति का भाव रहता है, वही इनमें था। वास्तव में इस युग मे भक्ति धार्मिकता की ही परिचायक नही थी, विलास-जर्जर दरबारी वातावरण के बाहर विषय-वासना-जन्य दुख से आकुल मन के लिए शरणभूमि भी थी। यही कारण है कि समय-समय पर रचे गये इन छन्दो मे से अधिकांश में भक्त कवियों जैसी तन्मयता का आभास होता है।"[22]

शृंगारमय रीतिकाव्य में भक्ति की क्षीण धारा भी प्रवहमान दृष्टिगोचर होती है। प्रायः प्रत्येक कवि ने थोड़ी-बहुत भक्तिपरक पंक्तियाँ अवश्य लिखी हैं। इनकी श्रद्धा और प्रेम को लक्ष्य करके कहीं-कहीं उनके भक्त होने का भ्रम होने लगता है—

कब को टेरत दीन ह्वै होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगतगुरु जननायक जगबाय॥ –बिहारी

परन्तु ये कवि भक्त थे, ऐसा मानना कोरी भ्रान्ति होगी। वस्तुतः भक्ति उनके काव्य मे संचारी भाव है। "लौकिक वासना-वायु मे श्वास लेने वाले इन कवियो को जब भक्ति-रस-सिक्त मंद समीकरण छूता हुआ निकल जाता तो वे एक क्षण के लिए "राधिका कन्हाई के सुमिरन के बहाने" में इतने तल्लीन हो जाते कि अपने अंगीकृत सूत्र का उन्हे ध्यान तक न रहता। ऐसी दशा मे उनके मुख से जो उक्ति निकलती वह भक्ति रस से ओतप्रोत होती थी।"[23] इसके अतिरिक्त अपनी वय के उत्तरार्द्ध मे जब मानव की इन्द्रियाँ यथेष्ट भोग-विलासिता से तृप्त हो उठती है, शिथिल पड़ जाती है तब वह लोक की अपेक्षा परलोक के सम्बन्ध मे चिन्तित होने लगता है। फलस्वरूप वह राग को त्याग, विराग की ओर, शृंगार से मुख मोड़ भक्ति की ओर उन्मुख हो जाता है। ऐसा ही पद्माकर, देव, मतिराम आदि कवियो के साथ हुआ है।

शृंगारी कवियो के अतिरिक्त रीति युग मे कुछ संत एवं वैष्णव कविगण भी काव्य-रचना में संलग्न थे। इनमें नागरीदास, हित वृन्दावनदास, मधुसूदनदास और भगवत रसिक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ये कवि भक्त पहले थे, कवि बाद मे। इसलिए इनके काव्य मे भक्ति की पुण्य-सलिला भागीरथी प्रवाहित हो रही है। यथा—

> अन्तर कुटिल कठोर भरे अभिमान सों,
> तिनके गृह नहिं रहे संत सनमान सो।
> उनकी संगति भूलि न कबहूँ जाइए,
> ब्रजनागर नन्दलाल सुनिसिदिन गाइए॥ —नागरीदास

रीतिकालीन भक्ति के विषय मे बड़ा संतुलित निष्कर्ष देते हुए डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है कि "यह भक्ति भी रीति कवियों की शृंगारिकता का ही अंग थी। जीवन की अतिशयता अथवा अतिशय रसिकता से जब ये लोग घबरा उठते होंगे तो राधा-कृष्ण का यही अनुराग उनके धर्मभीरू मन को आश्वासन देता होगा। इस प्रकार रीतिकालीन भक्ति एक ओर सामाजिक कवच और दूसरी ओर मानसिक शरणभूमि के रूप में इनकी रक्षा करती थी।"[24] अपवादस्वरूप केशव, देव, पद्माकर के काव्य मे यत्र-तत्र भक्ति के सच्चे और शुद्ध उद्‌गार भी देखने को मिलते है। पद्माकर की ये पंक्तियाँ देखिए—

> छोड़ हरिनाम नहिं पैहै बिसराम अरे,
> निपट निकाम तन चाम ही को चोला है।

ऐसा लगता है कि उपर्युक्त उक्ति अथवा निष्कर्ष वैराग्यग्रस्त स्थिति का सूचक है। जीवन की आपाधापी और अतिरिक्त भोगमयता से उत्पन्न अवसाद और थकान की सूचना ऐसी पंक्तियों से मिलती है। थक्कर और वार्धक्य को प्राप्त

करके यदि कोई व्यक्ति अथवा कवि भगवान की भक्ति की वकालत करे तो उसे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उचित कहा जा सकता है। समूचे रीतिकाल मे भक्ति की कोई अविरल, शान्त-निर्मल धारा प्रवाहित होती हुई दिखलाई नही देती है। निश्चय ही, इस काल की भक्ति शृंगारिकता के साँचे मे ढली हुई है। यही कारण है कि इस काल के कवि व काव्य सभी दृष्टियो से शृंगारपरक है। उसमे यदि कही भक्ति का भाव है तो उसे ठीक वैसा ही माना जायेगा जैसे कोई शृंगार-सरिता मे भक्ति के छींटे डाल दे। शृंगार-सरिता मे पड़े हुए भक्ति के छींटे या तो उसमे विलीन हो जाएँगे अथवा अपने आरोपित और असहज रंग के कारण अधिक विश्वसनीय प्रतीत नही होंगे। यही स्थिति रीतिकालीन भक्ति की दिखलाई देती है।

नीतिपरकता

भक्ति की भाँति ही नीतिपरकता की प्रवृत्ति भी रीतिकाल की गौण प्रवृत्ति ही है। यही कारण है कि कुछ समीक्षकों ने नीतिपरकता को भक्ति की भाँति ही शृंगार-सरिता में पड़ी हुई एक बूँद माना है। नीति शब्द व्यापक अर्थ रखता है। इसमें नैतिकता, नियम, आचरण, व्यवहार की शुद्धता और सांसारिक व जीवन नियमों को स्थान प्राप्त होता है। भक्तिकाल में जो स्थिति थी, वैसी स्थिति यहाँ नहीं दिखलाई देती है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे रीतिकालीन कवियो ने नीतिपरक उक्तियाँ इसलिए लिखी हैं कि वे अपने आपको बहुज्ञ प्रमाणित कर सकें अथवा अपना पांडित्य प्रदर्शन कर सकें, कोई यह न कह सके कि रीति कवियो की कोई नीति नही थी—कोई नैतिक-नियम नही थे। वास्तव मे रीति युगीन काव्य मे जो भी नीतिपरक उक्तियाँ कही हैं, उनमें जीवन के सूत्र भी झलकते है और राधा-कृष्ण का अनुकीर्तन भी सुनाई पडता है। इतने पर भी ये कवि न तो नीतिज्ञो की कोटि में ही आते हैं और न भक्तों की ही श्रेणी मे बिठाये जा सकते है।

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे नीतिकाव्य का सृजन तो काफी हुआ है, किन्तु वह पूर्णतः नीति काव्य न होकर रीति काव्य ही है। एक शोधक के अनुसार लगभग 90 कवियो ने 125 ग्रन्थो से भी अधिक ग्रन्थो की रचना की है। इस प्रवृत्ति के पोषकों मे गिरिधर, वृन्द, दीनदयालु गिरि भड्डरी, बैताल आदि प्रमुख हैं। इस युग में कुछ तो ऐसे संग्रह मिलते हैं जो केवल नीतिपरक मुक्तकों के हैं जैसे वृन्दसत सई, मीर का अन्योक्ति शतक और छत्रसाल की नीति मंजरी आदि। इनके अतिरिक्त बिहारी आदि कवियों की रचनाओं मे भी कुछ नीतिपरक रचनाएँ उपलब्ध हो जाती हैं। इस युग की नीति कविता मे धर्म और आचार, समाज और राजनीति, नारी, सत्संग, स्वास्थ्य, वचन पालन, खेती, व्यापार व शकुन आदि पर भी कलम चलाई गई है। 'यह काव्य एक ओर तो तत्कालीन

समाज का दर्पण है, दूसरी ओर मार्गदर्शक भी। ऐसी सभी काव्य-रचनाओं में शान्त रस का उचित परिपाक हुआ है। वैसे यह समस्त काव्य कविता कम सूक्ति अधिक है।'[25]

भक्ति काल में नीति और भक्ति अभिन्न थे क्योंकि मध्ययुग में भक्ति धर्म से पृथक नहीं थी और धर्म नीति से जुड़ा हुआ तत्व है। तत्कालीन धर्म हमें यह नीति सिखलाता है कि यदि धर्मानुमोदित कार्य करने हैं तो करणीय और अकरणीय के मध्य एक स्पष्ट विभाजन करना होगा, भक्ति भाव रखना है तो धर्म व नीति को अपनाना होगा। भक्तिकाल में ऐसा ही था, किन्तु रीतिकाल तक आते-आते जीवन मूल्य बिखरने लगे; शृंगार की उद्दाम सरिता जो वासनाकूलों में बँध कर बह रही थी; उसमें विकृति, विलास और दमित भावनाओं का रंग गाढ़ा होता गया धर्म और भक्ति का रंग फीका पड़ता गया और समूचे समाज में उच्छृंखलता और मनमाने ढंग से जीने की मनोवृत्ति पनप ही गई। फलतः धर्म के अभाव में भौतिक सुख-साधन प्रबल होते गये। ऐसी स्थिति में नीति का वह रूप सुरक्षित न रह सका, जो भक्तिकाव्य में मिलता है।

इस काल का नीतिकाव्य आध्यात्मिकता से निरपेक्ष होकर उस युग के व्यक्ति की भौतिक अथवा मानसिक समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने के उद्देश्य से कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उपदेश करता है। चाहे राज दरबारों के षड्यन्त्रों, कुचक्रों और कूटनीति से भरे वातावरण का अन्योक्ति प्रधान काव्य हो और चाहे वैयक्तिक अनुभवों के आधार पर रचित स्वतन्त्रचेता कवियों की उक्तियाँ अथवा उपदेश हों—सभी में यह बात प्रकारांतर से मिलती है। दूसरे शब्दों में यह नीति-काव्य इस युग के कवियों द्वारा समसामयिक लोगों की समस्याओं का समाधान खोजने का काव्य है—भक्त कवियों के समान आध्यात्मिक विकास की कुंजी नहीं है।'[26] रीतिकाल के नीति कवियों में गिरिधर कविराय, दीनदयालु गिरि, 'वृन्द', रहीम आदि के नाम विशेष महत्व रखते हैं। दीनदयाल गिरि की कुंडलियाँ नीति-परक हैं। इनसे सामाजिकों के स्वभावगत गुण-दोषों को तो व्यक्त किया ही गया है, अपने समय के धर्म, समाज और जीवन व्यापी विकृत मूल्यों व प्रसंगों को भी अभिव्यक्त किया गया है। कवि ने कर्त्तव्यविमुखता, अनाचार, स्वार्थपरता, परम्परा के उल्लंघन आदि पर तीखा व्यंग्य किया गया है। स्वार्थपरता, अवसरवादिता, धन लोलुपता और स्वार्थ की प्रीति जो उस समय समूचे समाज में व्याप्त थी, नीति-काव्य और उसके रचनाकारों की वाणी से फूट पड़ी है। यथा—

> साँई सब संसार में, मतलब का व्यवहार।
> जब लगि पैसा गाँठ में तब लगि ताको यार॥
> तब लगि ताको यार यार संग ही संग डोलै।
> पैसा रहा न पास यार मुख सों नहिं बोलै॥

कह गिरिधर कवि राय जगत यहि लेखा भाई।
बिनु बेगरजी प्रीति यार बिरला कोई साँई॥

दीनदयालु गिरि ने प्रधानतः वैराग्य और नीतिमूलक काव्य ही अधिक लिखा है। यों उनकी शृंगार मूलक रचनाएँ भी हैं किन्तु मुख्य विषय वैराग्य और नीति ही रहा है। इन नीति रचनाओं में चाहे वे दृष्टांतमूलक हों अथवा अन्योक्ति-परक, कवि ने अपनी बात कहने के लिए सामान्यतः अप्रस्तुतों का आश्रय लिया है।........ इन सबके माध्यम से सद्गुणों की प्रशंसा, दुर्गुणों के तिरस्कार, मोहनिद्रा से जागृत होने तथा ईश्वर में मन लगाने सम्बन्धी उपदेश ही कवि का उद्देश्य रहा है—गिरिधर के समान समकालीन धर्म, समाज आदि में विद्यमान अनैतिकता का उद्घाटन करने का प्रयत्न उसने नहीं किया। अतः कह सकते हैं कि दीनदयालु की नैतिक दृष्टि ऐसे विरले संन्यासी की दृष्टि है जो संसार की सभी समस्याओं का समाधान सद्गुणों के विकास और दुर्गुणों के तिरस्कार के साथ माया-मोह के त्याग और ईश्वरा धन में खोजता है।[27] उनकी वाणी मनुष्य के भौतिक व आध्यात्मिक कल्याण के लिए ही अपना सही उपयोग प्रमाणित करती है :

1. "कीजै सत उपकार को खल मानै नहिं कोय।
कंचन घट पै सींचिये, नींब न मीठो होय।"

2. "दारो तुम या बाग में कहा हँसो मुख खोलि।
दिना चार की औध में लीजै नैक कलोलि॥
लीजै नैक कलोलि दसन की जो यह लाली।
जैहे कहूँ बिलाय होयगी डाली खाली॥
बरनै दीनदयाल लगे खग हैं दिसि चारो।
भीतर काटत कीट कौन रंग राहो दारो॥"

अन्योक्ति शैली में लिखित ये पंक्तियाँ भी देखिये जिनमें गुलाब को माध्यम बनाकर संसार के अविवेकी मनुष्यों को सम्बोधित किया गया है :

सुनिये मीत गुलाब अलि, क्यों मन रहिहैं रोकि।
रहित न धीरत रसिक चित, कुसुमित कली बिलोकि॥
कुसुमित कली बिलोकि, चहूँ दिसि भरत भाँवरी।
ताहि न कंटक वेधि करो मत बिकल बावरी॥
बरनै 'दीनदयाल' पालि हित अपनो गुनिये।
रस पराग जुह राग सुगंधहिं दै जस सुनिये॥

वृन्द सतसई में भी वृन्द ने नीतिपरकता को ही प्रमुखता दी है। लगभग सात सौ दोहों में नीति, वैराग्य, भक्ति और सदाचार व सत्संग आदि को ही प्रमुख विषय बनाकर काव्य रचना की गई है। 'वृन्द' ने अपनी सतसई में कोरे उपदेशों

को ही स्थान नहीं दिया है, वरन् उनकी सूक्तियों में सर्वत्र वैदग्ध दृष्टिगत होता है। सरस, सरल भावों तथा अनोखे दृष्टान्तों के कारण यह रचना अधिक रोचक और लोकप्रिय बन गई है। 'वृन्द' ने संसार में जो कुछ देखा और अनुभव किया, उसी को काव्य में मूर्त रूप प्रदान किया। इसी कारण उनकी सूक्तियाँ चित्र रूप मे पाठक के सामने आती हैं। 'वृन्द' को जीवन में यह कटु अनुभव हुआ होगा कि बिना बुलाये पराये घर जाने पर कभी इज्जत नहीं होती, उल्टे मान घट जाता है।[28] जीवन मे सुख-दुख को वे समान मानते थे और कहते थे कि सुख-दुख का यह क्रम निरंतर चलता रहता है।[29] अतः मनुष्य को धैर्य का त्याग नहीं करना चाहिए। जब निरंतर अभ्यास से पत्थर भी पसीज सकता है[30] तो फिर मनुष्य तो चेतन है, अभ्यास करने पर अनेक गुणों से युक्त हो सकता है। गुणों से शून्य व्यक्ति ऊँचे स्थान पर बैठकर शोभा नहीं देता है—

ऊँचे बैठे ना लहैं गुन बिन बडपन कोय।
बैठे देवल सिखर पर, बायस गरुड़ न होय॥

कतिपय अन्य उदाहरण देखिये और वृन्द के काव्य में उपलब्ध नीति-परकता का अनुमान लगाइये—

1. स्वारथ के सब ही सगे बिनु स्वारथ कोउ नाहिं।
   जैसे पंछी सरस तरु निरस भये उड़ि जाहिं॥
2. सुख बीते दुख होत है, दुख बीते सुख होत।
   दिवस गये ज्यों नित उदित निसिगत दिवस उदोत॥
3. सुघरी बिगरै वेग ही बिगरी फिरि सुघरै न।
   दूध फटै काजी परै सो फिर दूध बनै न॥
4. कहा करै कोऊ जतन प्रकृत न बदलै कोइ।
   सानै सदा सनेह में जीभ न चिकनी होइ॥
5. सज्जनता न मिलै कियैं जतन करौ किन कोइ।
   ज्यौं करि फार निहारियै लोचन बड़ो न होइ॥
6. जो कहियैं सो कीजिए पहलैं करि निर्धारि।
   पानी पी घर पूछबौ नाहिन भलौ विचारि॥

कहने की आवश्यकता नहीं है कि रीतिकाव्य की गौण प्रवृत्ति के रूप में नीतिपरकता को विस्मृत नहीं किया जा सकता है। उपर्युक्त कवियों के अतिरिक्त बिहारी ने भी बावजूद रीति निरूपण व शृंगार निरूपण के अपनी सतसई मे नीतिपरक दोहो को [संख्या मे भले ही कम हों] स्थान दिया है। इसके लिए बिहारी सतसई को देखा जा सकता है। हाँ यह नीतिपरकता सभी कवियों मे स्थान नहीं पा सकी है।

वीर रसात्मकता :

रीतिकाल में भले ही शृंगार प्रधान रस रहा हो किन्तु वीररस को भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। भूषण, पद्माकर की वीररसात्मक रचनाओं का विशेष महत्व है। मुसलमान शासन भारत में विदेशी था। भारतीय जनता ने इनके अत्याचारों से पीड़ित होकर इनके विरुद्ध सिर उठाया। मराठे, सिख और रजवाड़े इस विद्रोह को आगे बढ़ाने वाले थे। मराठों में वीर छत्रपति शिवाजी का नाम बहुत ऊँचा है। भूषण ने अपने वीर काव्य का आलंबन इन्हीं को बनाया है। 'भूषण' के साथ ही लाल, सूदन, पद्माकर आदि कवियों ने हिन्दू वीरों की वीरता के सम्बन्ध में उत्कृष्ट वीर रस की कविता का सृजन किया। वीर रस पर लिखने वाले तो रीतिकाल में और भी कवि हैं, पर रीति परम्परा पर वीर काव्य लिखने वाले तो भूषण ही हैं·······वस्तुतः भूषण की विशेषता रीति परम्परा पर वीर रस से सम्बन्धित ओजपूर्ण कविता करने में है और इस दृष्टि से भूषण अद्वितीय हैं।[31] प्रशस्ति काव्य अथवा वीर काव्य का प्रथम उत्थान हिन्दी साहित्य में आदिकालीन रासो काव्यों को ही मानना चाहिए। इस दृष्टि से शृंगारकालीन उत्साह [स्थायी भाव] परक रचनाओं को वीरकाव्य के द्वितीय उत्थान की ही संज्ञा से अभिहित किया जा सकता है।

रीतिकाल में वीर काव्य की पाँच पद्धतियाँ मिलती हैं—1. शुद्ध वीर काव्य 2. शृंगार मिश्रित वीर काव्य 3. भक्ति भावित वीर काव्य 4. अनूदित वीर काव्य 5. प्रकीर्ण वीर काव्य। सामान्यतः वीर काव्यों के रचनाकार राजाश्रित ही रहे। प्रमुख वीर काव्यों में आचार्य केशव के 'रतनबावनी', 'वीरचरित्र,' और 'जहाँगीर जस चन्द्रिका,' भूषण के शिवराज भूषण, शिवाबावनी और छत्रसाल दशक, मान कवि का राज विलास, सूर्यमल्ल की वीर सतसई, सूदन का सुजान चरित्र और पद्माकर की हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि के नाम लिये जा सकते हैं। भूषण का वीर काव्य जातीयता को आधार बनाकर लिखे जाने की अपेक्षा राष्ट्रीय चेतना के संदर्भ में लिखा गया काव्य है। उसमें हिन्दुत्व प्रधान तो है; पर वही तत्कालीन प्रवृत्ति का द्योतक होने के साथ राष्ट्रीयता का भी संवाहक है। वह शुद्ध वीर काव्य है। श्रीधर, पद्माकर और सूदन का काव्य शुद्ध वीर काव्य नहीं है क्योंकि इन कवियों की प्रवृत्ति इतिवृत्तात्मक और प्रशंसात्मक रही है।

शृंगारमिश्रित वीरकाव्यों में रासोपद्धति का ही विकास हुआ है। जोधराज, सूर्यमल्ल और चन्द्रशेखर की रचनाएँ इसी प्रकार की हैं। भक्तिभावित वीर काव्यों में दुर्गा, कालिका, नृसिंह और हनुमान के यशोगान हैं। अनूदित वीर काव्यों में सबलसिंह चौहान का 'महाभारत,' कुलपति का 'द्रोणपर्व,' और पदमेश का 'कर्ण पर्व,' प्रमुख हैं। प्रकीर्ण वीर काव्य के रचयिताओं में भी अनेक कवि आते

है। अतः समस्त वीर काव्यों को ध्यान मे रखकर यही कहना ठीक लगता है कि अधिकांश रचनाएँ राजाश्रय से सम्बन्धित होने के कारण प्रशस्तिपरक ही हैं। इस विषय में डॉ. महेन्द्रकुमार का मत देकर इस प्रसंग को समाप्त किया जा सकता है। उनके शब्द हैं कि "रीतिकालीन परिमाण बहुल मुक्तक वीरकाव्य आदिकालीन वीर कवियों द्वारा रचित अनगढ़ प्रकीर्ण मुक्तकों के समान आश्रयदाताओं के गुण, शौर्य और पराक्रम के गायन को अपनाकर भी उनकी तुलना मे नितांत कृत्रिम एवं प्रभावहीन ही रहा है।........जहाँ तक प्रबन्धात्मक वीर काव्यों का प्रश्न है, आदिकाल के कड़वकबद्ध चरित काव्यों अथवा छंद-वैविध्यपरक रासो काव्यों की शैली का अनुसरण ही इस काल के वीर काव्यों में नही किया गया है, आश्रयदाताओं के युद्धों का वर्णन भी वस्तुपरिगणनात्मक ढंग से किया गया है—ध्वनि चित्रण एवं ओज की सृष्टि के हेतु भाषा में कृत्रिम तोड़-मरोड़ भी समान रूप से की गई है। अन्तर यदि है तो यही कि आदिकालीन कवि के वर्णन में इतनी अतिरंजना है कि तथ्य सर्वथा लुप्त हो गया है जबकि इस युग के कवि के वर्णनों मे तथ्यों का निर्वाह इतना अधिक हुआ है कि कवित्व सर्वथा लुप्त हो गया है और ये काव्य किसी तक पद्यबद्ध इतिहास बन गये हैं।"[32]

हास्यपरकता :

हिन्दी हास्य काव्य का प्रारम्भ प्रमुखतः रीतिकाल में ही प्रारम्भ हुआ। आदिकाल मे तो इसका अभाव ही है। यदि तुलसी के नारदप्रसंग और शंकर विवाह तथा विनय पत्रिका के एक दो पदो को छोड़ दिया जाय तो भक्तिकालीन साहित्य भी इससे रिक्त ही कहा जायेगा। एक कारण यह हो सकता है कि हास्य रस की कविता को उस समय निम्न कोटि की समझा जाता था। इतने पर भी रीतिकाल मे हास्य रस की कुछ अच्छी रचनाएँ लिखी गई हैं। संस्कृत की भाँति ही रीति कवियों ने हास्य रस का आलंबन महादेव जी को ही बनाया है। कतिपय परिहास राधा और कृष्ण को लेकर भी किया गया है किन्तु उसे शृंगार के अन्तर्गत ही मानना चाहिए। कतिपय स्थलों पर महादेव जी के अतिरिक्त 'कंजूस' व 'नपुंसक' व्यक्तियों को भी हास्य रस का आलम्बन बनाया गया है 'खटमल' को आलंबन मानकर संस्कृत मे भी हास्य की योजना की गई है—

> कमले कमला शेते हरः शेते हिमालये।
> क्षीराब्धौ च हरिः शेते मन्ये मत्कुणशंकया॥

रीतिकाल मे भी प्रीतम जी [अली मुहिब खाँ] ने 'खटमल बाईसी' नामक बड़ी प्रभावी रचना की है। काव्यत्व से यह रचना भले ही कमजोर हो, किन्तु हास्यपरकता के विधान मे अविस्मरणीय है—

बायन पै गयो, देखि बनन में रहे छपि;
 गाँधन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है ॥
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
 बैदन पै गयो, काहू दारू ना बहाई है ॥
जय हहराय हम हरि के निकट गये,
 हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है ॥
कोऊ न उपाय, भटकत जनि डोलै,
 सुन खाट के नगर खटमल की दुहाई है ॥

अपवाद स्वरूप एक दो स्थलों पर बिहारी आदि ने भी हास्य की योजना की है। स्पष्ट है कि हास्यपरकता रीतिकालीन काव्य की गौण प्रवृत्ति ही है। इस प्रवृत्ति का प्रयोग करने वाले कवियों की संख्या सबसे कम इसी कारण है कि उस समय के कवि यह मानकर चलते थे कि हास्य रस की कविता उच्च श्रेणी के अन्तर्गत नहीं मानी जा सकती है। कवियों ने इस ओर सोचा भी नहीं, फलतः अच्छे हास्य रस से परिपूर्ण रचनाओं का अभाव रहा है।

कलाभिव्यंजन सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ

जब आत्मचिंतन, आत्मानुभव और परिवेश मे विकसित स्थितियों से प्रभावग्रहण करके कलाकार का मानस उद्वेलित हो उठता है, तब वह अपने मानस को दूसरों पर खोलने के लिए उद्यत होता है। किंचित् कसमसाहट, किंचित् द्वन्द्व और अपने अनुभवों को अभिव्यक्त करने की बेचैनी ही कलाकार को कलामाध्यमों को ग्रहण करने की प्रेरणा देती है। जब कलाकार इस सोपान से गुजरता है तब जिस भाषा-शैली, अलंकरण वृत्ति, चित्रयोजना को वह अपनाता है, वही उसके कलाजगत् का निर्माण करती है। अतः कलाभिव्यंजन मे कला-अभिव्यक्ति के ये ही उपर्युक्त उपकरण आते हैं। रीतिकाल की प्रवृत्तियों के विश्लेषण मे कलाभिव्यंजन सम्बन्धी प्रवृत्तियों का विवेचन, मूल्यांकन इन्हीं उपकरणों के सहारे किया जा सकता है।

ब्रजभाषा का प्रचुर प्रयोग

रीतिकालीन काव्य की भाषा ब्रज रही है। ब्रजी का प्रचुर प्रयोग इस काल की कविता मे दिखलाई देता है। सूरदास से पूर्व की ब्रजभाषा प्रारंभिक है और सूर के बाद की ब्रजभाषा किंचित् अधिक विकसित है तो रीतिकालीन ब्रजभाषा अपेक्षाकृत अधिक परिष्कृत और प्रौढ है। सूर, बिहारी और घनानन्द के हाथों मँजकर ही यह भाषा चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है। यह वह भाषा है जो स्वभावतः ही मधुर और कोमल रही है। ऐसी भाषा का सफल प्रयोग समूचे रीतिकाल में देखा जा सकता है। भाषा के मामले में सभी कवियों का दृष्टिकोण भाषा को

अधिकाधिक आकर्षक, सरस और प्रवाही बनाने का रहा है। हाँ; भिखारीदास ने काव्यभाषा का आदर्श मिलीजुली भाषा को ही स्वीकार किया है। उन्होंने लिखा है—

भाषा ब्रजभाषा रुचिर, कहैं सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारसिहु, पै अति प्रगट जु होय ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर, नाग जमन भाषानि।
सहज पारसीहू मिलै, षट विध कवित बखानि ॥

इस आधार पर तो कवि तुलसी और गंग की भाषा ही टकसाली मानी जा सकती है। वास्तविकता यह है कि मध्यकाल मे ब्रजभाषा काव्यभाषा के रूप मे रूढ़ हो गई थी, किन्तु उसमे अन्य भाषाओ का मेल भी हो रहा था। अवधी, बुंदेलखण्डी, छत्तीसगढी, मगही, भोजपुरी और फारसी आदि के शब्द और कभी-कभी क्रिया पद भी सोद्देश्य प्रयुक्त होते थे। जो भी हो, इतना सच है कि परिमाण और परिणाम दोनो ही दृष्टियो से इस युग में ब्रजभाषा का यथेष्ट विकास एवं संवर्द्धन किया गया। "उसमे प्रेम की विविध एवं सूक्ष्म वृत्तियो की बडी सफल व्यंजना हुई है।"[33] घनानंद, बिहारी, देव, पद्माकर आदि की भाषा इसका प्रमाण है। घनानंद के विषय में तो कहा ही गया है–कि वे 'न ही महा ब्रजभाषा प्रवीण थे'। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने स्पष्ट लिखा है कि "वास्तव मे रीति-काव्य जितना तत्कालीन समाज के क्लांत चित्त के विश्राम और विमोदन की व्यवस्था करता है, उतना परिष्करण और नियोजन की नही। भाषा के भी विश्रामदायक और विनोदन गुणो का इस काल मे खूब मार्जन हुआ, परन्तु उसे इस योग्य बनाने का प्रयत्न किसी ने नही किया कि वह गम्भीर प्रणाली का उपयुक्त वाहन बन सके।"[34]

विनोदन गुण के विस्तार के लिए वर्ण मैत्री, अनुप्रासत्व, शब्दगति, शब्दशोधन व अनेकार्थता आदि पर इसकाल के कवियो ने विशेष ध्यान दिया है। मुहावरे, लोकोक्तियाँ और नाद सौन्दर्य आदि चमत्कार उत्पन्न करने के लिए सदैव प्रयुक्त होते रहे। इस युग की ब्रजभाषा भक्तिकाल की ब्रजभाषा से कही अधिक ललित एवं परिष्कृत है। सूर और तुलसी की ब्रजभाषा से बिहारी और घनानंद की तुलना करने से उपयुक्त स्थापना की पुष्टि हो सकती है। इसमें कोई संदेह नहीं कि रीतिकाल में प्रयुक्त ब्रजभाषा सभी भाषायी गुणो से परिपूर्ण है। उसमे प्रवाहमयता 'सरसता' मधुरता, सौकुमार्य तो है ही; नादात्मक सौन्दर्य व प्रभा-विष्णुता के साथ-साथ चित्रगुण भी पर्याप्त है। निसंदेह इस युग मे ब्रजभाषा की उन्नति तो हुई, किन्तु एक बड़ा अभाव बराबर दिखलाई देता है। "भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय

व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी कि जिससे उस च्युतसंस्कृति दोष का निराकरण होता जो ब्रजभाषा काव्य मे थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है।"[35]

शब्दों की तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति इस युग के प्रत्येक कवि में मिल जाती है। भूषण आदि कवियों के रस-बोध को भाषा की व्याकरण-सम्बन्धी अव्यवस्था ने विशेष आघात पहुँचाया है। अरबी और फारसी के आकर्षण ने भी भाषा की शुद्धता के लिए संकट उत्पन्न किया। 'उमरदराज' और 'बखतबलंद' जैसे शब्द बलात् प्रस्तुत किये जाने लगे। फिर भी इतना निर्विवाद है कि रीतियुगीन ब्रज-भाषा की शक्ति असीम है। लक्षणा, व्यंजना जैसी शब्द शक्तियों व लोकोक्ति मुहावरों के प्रयोग से भाषा की अभिव्यंजका शक्ति न केवल उत्कर्ष को पा गई है; वरन् प्रेषणीय भी बन गई है। लक्षणा-व्यंजना के प्रयोगो में बिहारी, देव और पद्माकर तो प्रसिद्ध हैं ही; घनानन्द सर्वोपरि ठहराते हैं। उनके लाक्षणिक प्रयोग; भाषा के वक्रतापूर्ण कथन और विषयानुकूल शब्द या भाषा प्रयोग समूचे रीतिकाल मे अपना प्रतिद्वन्द्वी नही रखते है। उदाहरणार्थ, पहले 'देव' का उदाहरण लीजिए फिर घनानंद का—

"सांसन ही मे समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि॥
'देव' जिए मिलबेई की आस कै, आसहु पास अकास रह्यो भरि।
जा दिन ते मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरिजु हरि॥"

[देव]

"कंत रमैं उर अन्तर मे सुलहै
नही क्यों सुख-रासि निरन्तर।
देत रहैं गहैं आंगुरी, तेजु
वियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनन्द
रैनि दिना बिन जान सुततंर।
जानैं वेई दिन राति, बखानैं ते
जाय परै दिन-रात को अंतर॥"

[घनानंद]

अलंकार प्राचुर्य :

रीतिकाल के अभिव्यक्ति-पक्ष से सम्बन्धित एक विशेषता अलंकार-प्रयोग से जुड़ी हुई है। यह वह काल है जिसमे कवियों ने अलंकारों को अनिवार्य काव्यधर्म के रूप मे स्वीकार किया है। यह स्वीकृति ही इस युग के काव्य मे अलंकार प्राचुर्य का निमित्त बनी है। ठीक भी है, तभी तो कुछ समीक्षकों ने इस काल को

'अलंकार काल' का नाम देने का प्रयास किया था। अलंकार प्रयोग काव्य में बुरा नहीं होता है। भारतीय काव्यशास्त्र में अलंकारों की काव्योपयोगिता एवं आवश्यकता को लेकर दो प्रकार के वर्ग दिखाई देते हैं एक वर्ग वह है जो अलंकार को काव्य के शोभाधायक धर्म मानता है किन्तु अति अलंकार-प्रयोग को वर्ज्य स्वीकारता है। ध्यान से देखें तो अलंकार प्रयोग सहज स्थिति में बुरा नहीं है किन्तु जब वह कविता कामिनी के लिए बोझ बनने लगे अथवा उसके सौन्दर्य को विकसित करने की अपेक्षा दबाने लगे तब उसकी आवश्यकता और प्रयोग दोनों ही व्यर्थ प्रमाणित हो जाते हैं। दूसरा वर्ग उन कवियों का है और साथ ही समीक्षकों का भी, जो कविता मे अलकारो को परम आवश्यक मानते हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि रीतिकाल मे इन दोनो ही वर्गों से प्रभावित होकर कविता का सृजन-सिंचन हुआ है। फिर भी यह नही कहा जा सकता कि अलंकार की दृष्टि से इस काल की कविता सर्वथा निर्जीव, निष्प्राण एवं बोझिल हो गयी है।

रीतिकालीन कविता का प्रमुख विषय शृंगार रहा है। जहां शृंगार होता है, वहां अलकृति आवश्यक सी हो जाती है। दूसरे, इस काल की कविता पर सस्कृत-साहित्य के पुष्ट अलकारशास्त्र की लोकप्रियता भी आश्रयदाताओ की मनोवृत्ति के कारण बढ़ गयी थी। इसीलिए रीतिबद्ध कवियों ने अलकारों का प्रयोग प्रचुर मात्रा मे किया है। इस काल के रीतिबद्ध कवि आचार्यत्व का भी दावा करते है। उन्होंने संस्कृत-साहित्य मे से रस और अलंकार के दो मत लेकर अपनी काव्य-रचना मे उनका पल्लवन किया है। केशव की 'कविप्रिया', महाराजा जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', मतिराम का 'ललितललाम' और महाराजा रामसिंह का 'अलंकार दर्पण' आदि इस काल के अलंकार ग्रन्थों की श्रेणी में आते है। इसी प्रकार रस सम्बन्धी ग्रन्थों का सृजन भी इस काल मे बहुतायत से हुआ है। जहां तक रीतिकालीन कविता मे अलंकार-प्रयोग का प्रश्न है, उसके विषय मे यह कहा जा सकता है कि इन कवियों ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक, श्लेष, अनुप्रास, वक्रोक्ति, दृष्टान्त, उदाहरण, प्रतीप, असंगति, विरोधाभास, अन्योक्ति, सांगरूपक आदि कितने ही अलंकारों का प्रयोग बडी कुशलता से किया है। इसके साथ ही यह भी स्मरणीय है कि इन कवियों ने अलंकार को कुछ अधिक ममत्व देकर अपनी कविता-कामिनी का शृंगार इस भाव से भी किया है जिससे उसका सौन्दर्य-वर्धन भी हो और वह सामाजिको के बीच अलग से जानी-पहचानी जा सके। बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, चिन्तामणि जैसे कवियो ने अलंकार-प्रयोग की ओर विशेष ध्यान दिया है।

सेनापति श्लेष और यमक के प्रयोग के लिए विशेष प्रसिद्ध रहे हैं। उनके श्लेष प्रयोग कुछ समीक्षकों की दृष्टि मे भले ही श्लेष-सौन्दर्य हों, किन्तु एक सहृदय पाठक के लिए वे एक अतिरिक्त कसरत ही हैं। ऐसे श्लेष-प्रयोग का क्या औचित्य

है जिसे समझने के लिए पाठक को इतनी कठिनाई का सामना करना पड़े जितनी उसे अपेक्षित नहीं होती है। यह तो माना कि अलंकारों का यह चमत्कारिक प्रयोग रीतिकालीन कवि अपना पांडित्य-प्रदर्शन करने के लिए और अपने अलंकार-शास्त्र के ज्ञान के प्रभाव को सघन बनाकर प्रस्तुत करने के उद्देश्य से करते थे, किन्तु इस उद्देश्य-पूर्ति में कविता की कमर टूट गयी है और भाव-सौन्दर्य या तो प्रभावहीन सिद्ध हुआ है अथवा उसका स्वरूप ही विकृत हो गया है। कहीं-कहीं देव के प्रयोग भी ऐसे ही हैं। अतिशयोक्ति के प्रयोग में भी बिहारी आदि कवियों ने इतनी बड़ी-बड़ी ऊहाएँ की हैं कि वे हास्यास्पद हो गयी हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि रीतिकाल में काव्य का एक भाग ऐसा अवश्य है जो काव्यत्व में बाधक रहा है।

रीतिकालीन कविता में सर्वत्र अलंकार-प्रयोग बाधक हो, ऐसी बात भी नहीं है। अलंकारों के कुछ अच्छे प्रयोग भी इस काल की कविता में प्रचुर मात्रा में दिखलाई देते हैं। जहाँ-जहाँ ऐसे प्रभावी प्रयोग हैं, वहां कविता का सौन्दर्य-वर्धन हुआ है और भाव की रक्षा हो सकी है। इस प्रकार के प्रयोग देव के अधिकांश कवित्तों, पद्माकर के पद्यों एवं घनानन्द, बोधा और ठाकुर के कवित्त और सवैयों में बखूबी देखे जा सकते हैं। जहाँ तक रीतिमुक्त कवियों के अलंकार-प्रयोग का प्रश्न है, वे अधिकांशतः काव्य-सौन्दर्य में साधक हैं, बाधक नहीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि रीतिमुक्त कवि अलंकार-प्रयोग से अलग रहे, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि इन कवियों ने अलंकारों का प्रयोग बहुत सोच-समझ कर किया है। रीतिमुक्त काव्य में भाषा की लाक्षणिकता के साथ-साथ अलंकारों की प्रभावशीलता भी दिखाई देती है। विरोधाभास अलंकार के एक से एक आकर्षक प्रयोग रीतिमुक्त काव्य की धरोहर हैं। इस काव्यधारा में (रीतिमुक्त-काव्यधारा) सांगरूपकों की सृष्टि बड़ी कुशलता से की गयी है और वे भी कविता के लिए बोझ नहीं हैं, एक सहज प्रयोग की स्थिति के सूचक हैं। कहीं-कहीं तो अलंकारों का इतना आकर्षक प्रयोग हुआ है कि रीतिमुक्त काव्य छायावादीकाव्य का स्मरण दिला देता है जो उसके बहुत वर्ष बाद विकसित हुई काव्यधारा है। उदाहरणार्थ :

> उजरनि बसी है हमारी अँखियान देखो
> सुबस सुदेस जहा रावरे बसत हो।
> इसी प्रकार निम्न पंक्ति भी देखिए—
> जासो प्रीति ताहि निठुराई सो निपट नेह।

इन प्रयोगों में अलंकार का प्रभावी और मार्मिक प्रयोग देखा जा सकता है। विरोधात्मक सौन्दर्य की सृष्टि भी आकर्षक अलंकार-प्रयोग द्वारा की गयी है। रीतिमुक्त कवियों में भी तत्कालीन अलंकारिता के दर्शन होते हैं, किन्तु यह अलंकरण रीतिबद्ध कवियों की भाँति चमत्कारी-मनोवृत्ति को शान्त करने या भाषा

का निजवाड़ करने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ, वरन यह प्रेमी हृदय की सच्ची स्थिति (जैसे विरह की तीव्रता) का सच्चा आभास देने के लिए ही है। इस अलंकारप्रियता में भी रीतिमुक्त कवियों के हृदय की तीव्र भावनाओं एवं प्रेम की विषमता का सुन्दर निरूपण हुआ है। इन कवियों ने लाक्षणिक और व्यंग्यमूलक पद्धति से अपनी उन्मुक्त प्रेम की कविता को प्रस्फुटित किया है।[36] पं. विश्वनाथप्रसाद मिश्र के शब्दों में 'विरोधमूलक प्रणाली में या वक्रोक्तिपद्धति पर हृदय की सूक्ष्म अन्तर्वृत्तियों का उद्घाटन इन कवियों की विशेषता है।' मिश्रजी ने रीतिमुक्त धारा के प्रधान कवि घनानन्द की विरोधमूलक प्रवृत्ति का उद्घाटन इस प्रकार किया है—'प्रेम की विषमता के निरूपण के लिए' घनानन्द ने 'विरोधाभास' का सहारा बहुत लिया है, पर भाषा की मुहावरेदानी में कहीं बल नहीं पड़ने पाया है—

देखिए दसा असाध अँखियाँ निपेटनि की,
भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।

आँखें स्वभाव से ही निपेटनी (भुक्खड़) हैं, उस पर 'भस्मी व्यथा' अर्थात् भस्मक रोग उत्पन्न हो गया है जिसमें जो खाया जाता है वह भी भस्म हो जाता है, जब खाते रहने पर भी, अधिक मात्रा में खा लेने पर भी पेट नहीं भरता, तब भी इन्हें लंघन करना पड़ रहा है।....विरोधाभास के अधिक प्रयोग से घनानन्द की सारी रचना भरी पड़ी है।' रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की कविता में ही नहीं, वरन् इस काल के वीरकाव्य के रचयिता भूषण की कविता में भी अलंकारों की प्रधानता स्पष्ट है। उन्होंने अतिशयोक्ति के माध्यम से हिन्दू छत्रपति शिवाजी और वीर छत्रसाल की वीरता का बखान किया है। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, दृष्टान्त, अत्युक्ति, अनुप्रास आदि अलंकारों की झड़ी सी लगा दी है।

सूक्ष्म व कलात्मक अभिव्यंजना :

रीतिकाल की चाहे जितनी निन्दा की जाय किन्तु कहीं-कहीं सूक्ष्मता मौलिकता और कलात्मकता भी उक्त काव्य में दिखलाई देती है। जब हम सूक्ष्म निरूपण क्षमता और मार्मिक कल्पनाओं का प्रयोग देखते हैं तो आश्चर्य भी होता कि पांडित्य-प्रदर्शन में रुचि रखने वाले कवि इतने सूक्ष्मग्राही और ताजे कैसे हो गये। डॉ जगदीश गुप्त का कथन है कि भावना की यह सुकुमारता और सुन्दरता अपने अनुरूप नवीन, अछूती उपमाओं, परिकल्पनाओं तथा लाक्षणिक प्रयोगों की उद्भावना में सहायक हुई है। फलतः कहीं—कहीं अप्रत्याशित रूप से ऐसे अंश भी मिल जाते है, जिन्हें देखकर किंचित् आश्चर्य होता है कि किसी रीति कवि का परम्परानुसारी सौंदर्य-बोध उन्हें रचने में कैसे समर्थ हुआ। "हास गयो चढ़ि हंस की नाईं," "जस पुंडरीक को अकास चंचरीक है।", ब्रजपौरि "बिथा की कथा बियुरी है।" "मंजुल मंजरी पंजरी सी ह्वै", "फूल से फैलि परे सब अंग," "माखन सो मन दूध सो जोबन", "पुकार मधि मौन", "बैठे पीठि पहिचानि दै"

जैसे पदांश इसी प्रकार के हैं। इनका ताजा टटकापन इन्हें अपने में विशेष आकर्षक बना देता है। कुछ ऐसी ही ताजगी कभी-कभी उन रूप चित्रों में भी मिलती है जो सीधे ग्रामीण वातावरण से चुन कर सहज रूप में काव्यबद्ध कर दिये गये हैं। वे भी रीतिकवि की सामान्य अलंकार प्रियता से पृथक और इसीलिए विशेष आकर्षक दिखायी देते हैं। प्राकृत-अपभ्रंशों के मुक्तकों में ऐसे सहज सौंदर्य का चित्रण बहुधा मिलता है पर हिन्दी रीति-काव्य में यह उतना नहीं प्राप्त होता।[37] उदाहरणार्थ, बिहारी के निम्नलिखित दोहे देखिए :

गदराने तन गोरटी, ऐपन आड़ लिलार।
हूठ्यो दै इठलाइ दृग, करै गँवारि सु वार॥
गोरी गदकारी परै, हंसत कपोलन गाड़।
कैसी लसति गंवारि यह, सुनकिरवा की आड़॥

सौंदर्य-वर्णन, नायिका के अंग-प्रत्यंगों की आकर्षक छवियों, प्रकृति की मादक छवियों आदि में कुछ कवियों ने सूक्ष्म व कलात्मक अभिव्यंजना का उदाहरण प्रस्तुत किया है। देव, पद्माकर के साथ-साथ कहीं-कहीं सेनापति भी ऐसे कलात्मक अभिव्यंजन का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। बिहारी के दोहों में जो सूक्ष्मता और कलात्मकता है, वह किसी एक कारण से नहीं है। कहीं वह उनके वर्ण-बोध के कारण है तो कहीं सूक्ष्म पर्यवेक्षण के कारण है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

1. सखियान के आनन इंदुन तें अँखियान की बन्दनवार तनी।
2. ह्वै रही ठौर ही ठाढ़ी ठगी सी हँसे कर ठोढ़ी दिए ठकुराइनि।
3. ठाढ़ी बड़े खन की, बरसें बड़री अँखियान बड़े-बड़े आंसू।—देव

1. छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलि मन्दिर दुआर पर।
एक पग भीतर सु एक देहरी पे धरे,
एक कर कंज एक कर है किवार पर।

2. घंघरे की घूमनि मु उरूनि दुबीचे दाबी
आंगी हू उतारि सकुमारि मुख मोरे है।
दन्तनि अधर दाबि दुनरि भई सी चापि
चौवर पचौवर के चूनरि निचोरै है।

3. धरत जहाँई जहाँ पग है सु प्यारी तहाँ,
मंजुल मजीठ ही की माठ सी ढरत जात।
हारन ते हीरे झरें, सारी के किनारन ते,
बारन ते मुकुता हजारन झरत जात।

—पद्माकर

इन रूप-चित्रों में पर्यवेक्षण की सूक्ष्मता तथा परिष्कृत वर्ण-बोध के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। पद्माकर के उपर्युक्त अंतिम उदाहरण की पहली दो पंक्तियों में महावर-रजित पदो की लालिमा का अतिरंजित चित्रण है जो कवि की वर्ण-प्रियता प्रकट करता है। अन्य रीतिकवियों में भी यह वर्ण-प्रेम स्पष्टतया लक्षित होता है।[38]

कहने का तात्पर्य यही है कि रीतिकालीन काव्य में सूक्ष्म व कलात्मक अभिव्यजना की भी कमी नही है। गंग, सेनापति और विहारी के ऐसे अनेक उदाहरण है जो वर्ण-बोध के सूचक भी हैं और इन कवियों की सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभा के द्योतक भी। इससे यह प्रमाणित हो जाता है कि रीति-कवियो में ऐसी प्रतिभा भी थी जो उनके सूक्ष्म निरीक्षण को प्रगट करती है और ध्यातव्य यह है कि इन कवियो का सूक्ष्म निरीक्षण केवल शब्द-प्रयोग, वर्ण-बोध तक ही सीमित नही था, वह तो रूप, आकार, प्रकृति और मानव-स्वभाव के क्षेत्रो तक भी फैला हुआ था। वारीक बात को वारीकी के साथ कहना प्रशंसनीय है। यह स्थिति इस काल के रीतिमुक्त कवियों में सर्वाधिक मात्रा में देखी जाती है। इस विषय में अधिक कुछ न कहकर डॉ. महेन्द्र कुमार के इस वक्तव्य से पूर्णतः सहमति व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है :

"इस सम्बन्ध मे सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि रीतिकाव्य के समान शास्त्रवद्ध होने के स्थान पर इसके नितान्त वैयक्तिक होने के कारण इसकी बिंब योजना वस्तुपरकता से असम्पृक्त होकर इतनी रागात्मक रही है कि इसके बिंबों की सहज सामान्य रेखाएँ जहाँ एक ओर रीतिकवियो द्वारा अंकित काव्य बिम्बों की स्थूल अथवा नितान्त सूक्ष्म रेखाओ के समान कटी-छंटी, चमत्कारक और कौतूहलपूर्ण होने के स्थान पर नितान्त अनगढ, वक्र, पेनी, धारदार और मर्मस्पर्शी हो गयी हैं वही दूसरी ओर रीतिकाव्य के वस्तु-वैभव की रंगीनी और चमक-दमक तथा प्रयत्नसाध्य-सामग्री के स्पर्श से सर्वथा रहित एवं अपने आप में कोरी, लाक्षणिक तथा स्वतः प्रसाधिक है। दूसरे, चूंकि इसके रचयिता किसी भी रूप मे परम्पराओ और शास्त्रीय मर्यादाओ मे विश्वास नही करते इसलिए इनके काव्य-बिम्बों और उनकी अभिव्यक्ति मे रीतिकाव्य जैसी एक-रूपता दृष्टिगत नही होती—उनमे सर्वत्र प्रतिभा-कौशल अपनी झलक छोड़ता गया है। उधर कवि-अनुभूति की नितान्त वैयक्तिकता की सफल अभिव्यक्ति के कारण इस काव्य मे प्रत्येक संवेदन और स्पदन की नवीनता के अनुरूप सटीक और एकदम अछूते शब्दों, मुहावरो, क्रियापदो और अप्रस्तुतों का प्रयोग इतनी सहजता और कौशल के साथ हुआ है कि रीतिकाव्य का शास्त्रवद्ध और रूढ अभिव्यंजना व्यापार इसके समक्ष वासी प्रतीत होता है। कदाचित इसीलिए यह काव्य परिमाण मे अपेक्षाकृत अल्प होता हुआ भी रीतिकालीन साहित्याकाश मे सर्वथा पृथक और विशिष्ट दृष्टिगोचर होता है।"[39]

चित्रमयता —

चित्रमयता रीतिकालीन काव्य की एक ऐसी विशेषता है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। चित्रमयता से तात्पर्य ऐसे चित्रों से है जो वर्ण्य-विषय को साकार तो करते ही हैं, कवि की कवित्व-शक्ति का प्रमाण भी प्रस्तुत करते है। सामान्यतः चित्रमयता दो प्रकार की होती है—लक्षित चित्र योजना और उपलक्षित चित्र योजना। रीतिकालीन काव्य में चित्रमयता के ये दोनों रूप मिलते है। यह माना कि यहां जीवन के समग्र चित्रों का अभाव है, किन्तु जो खण्ड-चित्र इस काव्य में उपलब्ध है, वे भी पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। शृंगारकालीन खण्ड-चित्रों में एकरूपता, रूढ़िवादिता जैसे गुण अधिक हैं। अभिसारिका, खण्डिता आदि के प्रसंगों मे इस प्रकार के खण्ड-चित्र देखे जा सकते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने अद्भुत एवं रसात्मक चित्रों की योजना भी की है। लक्षित चित्र योजना से तात्पर्य प्रत्यक्ष रूप-विधान से है और उपलक्षित से तात्पर्य अलंकृत कल्पना से है।

"कुन्दन को रंगु फीको लगै" वाले पद में मतिराम द्वारा अंकित नायिका का रेखाचित्र लक्षित चित्र योजना का बेजोड़ उदाहरण है। इस युग के काव्य में लक्षित और उपलक्षित दोनों प्रकार के चित्र मिलते हैं। शब्द, स्पर्श, गन्ध इत्यादि से हीन चाक्षुष चित्रों मे इन्द्रियोत्तेजन की क्षमता संदिग्ध ही रह गयी है। चित्र-वृत्ति, हाव, चेष्टा इत्यादि के अंकन में विधायक और गत्यात्मक चित्रों को महत्वपूर्ण माना जायगा। "बतरस लालच लाल की" वाले दोहे में बिहारी ने ऐसा ही चित्र दिया है। कहीं-कहीं रीतिकालीन कवियों ने अपनी चित्रयोजना को आकर्षक बनाने के लिए चित्रोपम विशेषणों का प्रयोग भी किया है। डॉ. बच्चनसिंह का मत है कि "भावोद्दीपन में उपयुक्त और चित्रोपम विशेषणों का चयन काव्य शिल्प का विशिष्ट उपकरण है। सामान्य विशेषणों मे एक स्पष्टता और अमूर्तता रहती है, हमारी भावना को वे कोई ठोस आधार नहीं दे पाते। काव्योचित विशेषण इन्द्रियगोचर मूर्त रूप की सृष्टि मे अधिक समर्थ होते है। वे स्पष्ट रूप से विशेष क्रिया, अर्थ या रुचि का द्योतन करते है। ये विशेष क्रिया, अर्थ और रुचि स्वयं अपने आप मे विशेष्य के व्यापार नहीं है, बल्कि इनके मूल में कवि का अपना दृष्टिकोण भी निहित है। वस्तु के प्रति अपनी भावात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करने के लिए एक ही विशेषण का चुनाव किया जा सकता है, उसका पर्यायवाची विशेषण कवि का अभिप्रेत अर्थ नहीं दे सकता। कभी-कभी विशेष अर्थ गाभीर्य उत्पन्न करने के लिए असाधारण विशेषणों का चुनाव भी करना पड़ता है।"[40]

यदि डॉ. बच्चनसिंह के कथन के परिप्रेक्ष्य में रीतिकालीन कवियों द्वारा प्रयुक्त चित्रोपम विशेषणों का अध्ययन करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि इस काव्य मे ऐसे विशेषणों की भरमार है। उदाहरणार्थ : अलसौंहे नैन, सकुचौहि दीठि,

कटीली भौंह, खरे उरोजन, उचके कुचकोरन, उरज उतंग, सतरौंही भौंहन, तीखी चितौनि, बड़रे दृग, मौंहमही उमड़ी बड़ी ग्रांखिन, मुखर मंजीर, उलही छवि, निविड़ नितम्ब, चटकीली चूनरी, कजरारे कटाक्ष ग्रौर लाज कसी ग्रंखियां ग्रादि। ये कुछ ऐसे विशेषण प्रयोग हैं जो बिहारी, पद्माकर, देव, मतिराम, सेनापति ग्रादि कवियों के काव्य से लिए गए हैं। ये प्रयोग प्रयोग की दृष्टि से ग्रौचित्यपूर्ण ग्रौर प्रभावी बन पड़े हैं। रीतिकाव्य ऐसे प्रयोगों से भरा पड़ा है। घनानन्द के काव्य में भी ऐसे प्रयोगों की कमी नहीं है। ग्रतः कह सकते हैं कि चित्रोपम विशेषणों के प्रयोग से भी रीतिकाव्य में पर्याप्त चित्रमयता का विधान हुग्रा है।

चित्रमयता भाषा का सहज धर्म है। यह सहज धर्म रीतिकविता में प्रारम्भ से ग्रन्त तक व्याप्त है। रीतिकालीन चित्रमयता के उदाहरणस्वरूप कतिपय ग्रंश देखिए:

क्रिया विधायक चित्र—

"बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाय॥

ग्रस्तव्यस्तता का मोहक चित्र—

कहा लड़ैते दृग करे, परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट, कहुँ बैजंतीमाल॥

मुग्धा खंडिता का एक मनोरम चित्र—

लिखे कर के नख सों पग को नख, सीस नवाय के नीचे ही जोवै।
बाल नवेली न रूसनौं जानति, भीतर भौन मसूसनि रोवै॥

संश्लिष्ट चित्र—

ग्राई खेलि होरी घरै नवल किशोरी कहूँ,
बोरी गई रंग में सुगंधनि झकोरै है।
कहै पद्माकर इकंत चलि चौकी चढ़ि,
हारन के बारन तें फंद बंद छोरै है॥
घाघरे की घूमनि सु उरून दुबीचे दाबि,
ग्रांगी हू उतारि सुकुमारि मुख मोरै है।
दंतनि ग्रधर दाबि दूनरि भई सी चापि,
चौवर पंचौवर कै चूनरि निचोरै है॥

पद्माकर का यह चित्र ग्रत्यन्त शोभन ग्रौर ऐंद्रिय है। एकांत स्थान में चूनर निचोड़ती हुई नायिका की स्वाभाविक भंगिमाएँ ग्रपने ग्राप में ग्रत्यधिक ग्राकर्षक तो हैं ही, ये पाठकों के मन में भी भावात्मक ग्रनुकूलत्व उत्पन्न करने में

पूर्ण समर्थ है। रीतिकालीन कवियों के काव्य में कुछ चित्र ऐसे भी हैं जो रंगों का चुनाव करके प्रस्तुत किए गए हैं। रंगों का चुनाव इन कवियों ने तीन क्षेत्रों से किया है—प्रकृति के क्षेत्र से, वस्त्राभूषण के क्षेत्र से तथा पावक और दीपशिखा के क्षेत्र से। इनके वर्ण-चित्रों में शारीरिक चित्र तो मिलते ही हैं, कहीं मैचिंग कलर का प्रयोग है, कहीं कोम्बिनेशन ऑफ कलर है तो कहीं कॉन्ट्रास्टिंग कलर है। कहीं-कहीं वर्ण-परिवर्तन अर्थात "चेन्ज ऑफ कलर" भी विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि रीतिकालीन कवियों ने चित्रमयता की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया है।

चित्रमयता की ओर ध्यान देने के कारण रीतिकाल एक विशिष्ट एवं उल्लेख्य काल बन जाता है। रामधारीसिंह दिनकर ने तो यह भी माना है कि रीतिकाल भले ही समाज से कट गया हो और जीवन की समस्याओं के प्रति सावधान न रहा हो, किन्तु इस काल में सजावट और मजावट इतनी अधिक है कि सबसे अधिक स्वच्छ चित्र इसी काल की कविता में मिलते हैं। "आज आलोचना में चित्रकारी की महिमा सबसे ऊपर मानी जा रही है। अगर यही कसौटी हम रीतिकाल पर लगायें तो रीतिकाल हिन्दी का बहुत ही सफल काल समझा जायगा। कविता के कलापक्ष का मार्जन इस युग में इतना अधिक हुआ कि साधारण कवि के मुख से निकलने वाले छन्द भी देखने और सुनने लायक हो गये और कभी-कभी तो चित्रकारी ऐसी सजीव हो उठी कि ऊँची-ऊँची कविताएँ उसके सामने फीकी लगने लगी।........बिहारी को ही लें तो उनकी कविताओं से आलोचना का यह सिद्धान्त आसानी से निकाला जा सकता है कि कविता की सफलता भाव या विचार की ऊँचाई से नहीं, प्रत्युत कला और कारीगरी की पूर्णता से है।"[41]

चित्रमयता की दृष्टि से बिहारी तो सर्वोपरि हैं ही, रीतिकाल के छोटे-बड़े सभी कवियों को कविता के इस गुण में महारत हासिल थी, यह निर्विवाद कहा जा सकता है। कुछ उदाहरण देखिए :

1. घूँघट को पट ओट किए
   पट ओट दिए पिय को मुख देखै। —मतिराम
2. नैन नवाइ लजाइ रही
   मुसुकाइ लला उर लाइ पियारी। —मतिराम
3. पाछे-पाछे आवत अँध्यारी-सी भँवर-भीर
   आगे फैल रही उजियारी मुखचंद की। —मतिराम
4. नैननि हँसाइ नैकु नीवी उकसाइ, हँसि
   ससिमुखि सकुचि सरोवर ते निकसी। —देव

5. माँ हिय माँह गयी जड़ि वाकी
बड़ी-बड़ी आँखि जुटी-जुटी भौंहें। —श्रीपति

इसी प्रकार, माँ का दूध पीने के लिए हठ करते हुए बालकृष्ण की जो झाँकी पद्माकर ने उतारी है, वह अपनी सजीवता के कारण कवि की चित्रकला का अद्भुत उदाहरण बन गयी है :

देखु पद्माकर गोविन्द की अमित छवि
संकर-समेत विधि आनन्द सों बाढ़ो है।
झिझिकत झूमत मुदि मुसुकात गहि
अंचल को छोर दोऊ हाथन सों आढो है।
पटकत पाँय होत पैंजनी झुनुक रंच
नेकु-नेकु नैनन तें नीरकन काढो है।
आगे नन्दरानी के तनक पय पीवे काज
तीन लोक ठाकुर सो ठुनुकत ठाढ़ो है।

पद्माकर के हाथ मे जो कलम थी, वह विचार कम, चित्र अधिक उतारती थी। दोनों मे श्रेष्ठ कौन है ? विचार उठाने वाला या चित्र बनाने वाला ? कहना कठिन है। किन्तु, जहाँ काव्य कला का पर्याय माना जाता है, वहा चित्रकारी कविता का बहुत बड़ा गुण बन जाती है।[42]

काव्य-रूप

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल मे काव्य-रूपों का वैविध्य दिखलाई नही देता है। समूचा काल मुक्तक प्राचुर्य को प्रकट करता है। अधिकाश कवियों ने मुक्कों का ही सृजन किया है। उंगलियो पर गिने जाने योग्य कुछ कवि ऐसे हैं जिन्होंने प्रबन्ध काव्य भी लिखे हैं। प्रबन्धकाव्य संख्या मे कम तो हैं ही, साथ ही साथ प्रभावशाली भी नही हैं। वास्तविकता यह है कि रीतिकाल शृंगार और रसिकता का काल है और इस वृत्ति के प्रभावी निरूपण के लिए मुक्तक जितना सार्थक हो सकता है, उतना प्रबन्ध नही हो सकता। प्रबन्ध काव्य मे सानुबन्धन होता ही इसलिए है कि वहाँ जीवन को व्यापक धरातल पर प्रस्तुत किया जाता है। यहा जीवन है हो नही, अगर कुछ है भी तो वह जीवन की कुछ स्थितिया विशेष है। अतः इन विशेष स्थितियों के अभिव्यंजन के लिए मुक्तक ही उपयुक्त विधा है। रसात्मकता, अभिनवता, थोड़े में अधिक कहने की प्रवृत्ति, कल्पना की समाहार क्षमता और भाषा की सामासिकता मुक्तक के अनिवार्य गुण हैं। इस आधार पर यदि रीतिकालीन कविता मे आये मुक्तक काव्य का मूल्यांकन करें तो वह सफल ठहरता है।

मुक्तक रचना के इस युग में प्रबन्ध के लिए स्थान नहीं रह गया है। राधा-कृष्ण की कथा प्रबन्ध के लिए आवश्यक घटनाचक्र नही दे सकती थी। सम्भवतः इसी से प्रबन्धों की धारा इस समय निःशेष हो जाती है। कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित अन्य घटनाओं को ही प्रबन्धों मे ढाला जा सकता था। प्रबन्धो में नरोत्तमदास के अनुकरण पर लिखा गया आलम का "सुदामाचरित" और "रुक्मिणी परिणय" की कथा के आधार पर "श्यामसनेही" जैसे खण्ड-काव्य लिखे गये। *माधवानलकामन्दला की कथा पर कई रचनाएँ प्रस्तुत हुई।* बोधा का "विरह-वारीश" ऐसी ही रचना है। इस प्रकार नाम के लिए ही सही, प्रबन्धों की रचनाएँ भी रीतिकाल मे हुई है।

रीतिकाल : आक्षेप और समाधान

रीतिकालीन कविता अपने समय की श्रेष्ठ कविता है। उसमें कलात्मक बारीकी के साथ-साथ पांडित्य-प्रदर्शन और आचार्यत्व-प्रदर्शन का प्रमुख गुण दिखलाई देता है। कवियों की कलाबाजी, एक दूसरे से स्पर्धा करने की मनोवृत्ति और अपने-अपने काव्य को नित्यप्रति नये-नये, अलंकृत और चमत्कारी रूप मे प्रस्तुत करने की भावना के कारण इस काव्य में जीवन का अंश बहुत कम है। *यदि कोई प्रश्न करे कि रीतिकवियों की जीवन-दृष्टि क्या है,* तो इसका सहज और संक्षिप्त उत्तर यह कहकर दिया जा सकता है कि ये कवि विलास और वैभव को जीवन का आवश्यक तत्व मानते थे तथा चकाचौंध और मानवीय सम्बन्धहीनता को प्रमुखता देते थे। इस स्थिति के कारण ही कतिपय समीक्षकों ने रीतिकाल की निन्दा की है। समीक्षकों ने कहा है कि रीतिकालीन कविता मे तत्कालीन समाज का बिम्ब नही है, उस युग का जीवन और उससे जुड़ी हुई समस्याएँ नहीं है। इस विषय में प्रसिद्ध कवि रामधारीसिंह दिनकर जो अपने गद्य-लेखन के लिए भी विख्यात रहे, का मत देखिए—

"रीतिकालीन साहित्य मे ऐसा अंश बहुत कम है, जिसमें अपने समय का ताप हो अथवा जिसके भीतर तत्कालीन समाज की भावनाओं का प्रतिबिम्ब मिलता हो या जिसमें यह ताकत हो कि वह पढने वालों के मन को किसी यात्रा पर भेज सके। ध्वनि के उदाहरण तो रीतिकाल मे बहुत हैं, मगर उनका असर इतना ही है कि काग इस डाल से उड़कर उस डाल पर बैठ जाता है, मन को किसी दूर दिशा मे ले जाने की शक्ति रीतिकाल की कम रचनाओं मे मिलती है। रीतिकाल की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि उससे यह मालूम ही नही होता कि उस युग के साहित्यकार समाज की समस्याओं से परिचित थे अथवा उन्हे इस बात का ज्ञान भी था कि समाज की भी समस्याएँ हुआ करती है। ऐसा लगता है कि रीतिकालीन कवियों के मन के किसी भी स्तर पर कोई सवाल नहीं था,"

उत्तर खोजने को वे संघर्ष में पड़ते अथवा किसी प्रकार की द्विविधा और द्वन्द्व का सामना करते। उनका ध्यान जीवन पर नहीं, कला पर है, काव्यशास्त्र की गुत्थियों पर है और उन्हीं को समझाने के लिए उक्तियों और चित्रों का निर्माण करके वे निश्चिन्त हो जाते हैं। तत्कालीन समाज के हृदय में जो शंकाएँ रही होंगी, लोग जिन समाधानों की कामना कर रहे होंगे, रीतिकाल के कवियों को वे सुनायी नहीं पड़े।"[43]

दिनकर का उपर्युक्त मत काफी सही एवं सटीक है, किन्तु यदि यह विचार किया जाय कि क्या समाज का निर्माण कवि कर सकते हैं, तो स्पष्ट उत्तर होगा कि वे जैसा समाज होगा, वैसा उसे देख सकते हैं, उसका चित्रण कर सकते हैं और चाहे तो उसमें परिवर्तन की नयी लहर दौड़ा भी सकते हैं। रीतिकाल के कवियों ने जिस समाज को देखा वह समाज शृंगार, वैभव और विलास में आकण्ठ निमग्न था। विलासिता और घोर शृंगारिकता राजदरबारों में पनप रही थी और ये राजाश्रित कवि उसी का अंग बनकर रह गए। ऐसी स्थिति में इन्हें वही लिखना पड़ा जो राजा के दरबार में होता था। जब यह हम मान लेते हैं कि समूचा वातावरण विकृत और वासनापूर्ण था, तो फिर नया समाज कहाँ से आता? अतः रीतिकवियों ने जो चित्र प्रस्तुत किए हैं, वे तत्कालीन समाज के ही चित्र हैं उन्हें समाज-विच्छिन्न मानना उचित नहीं प्रतीत होता है। हाँ, अधिक से अधिक दिनकर के पक्ष में यह अवश्य कहा जा सकता है कि तत्कालीन कवियों ने जीवन की समस्याओं और उनसे जुड़े हुए प्रश्नों पर चिन्तन नहीं किया। यदि विकृति और विलासिता थी तो वह क्यों है, इस दिशा में सोचा नहीं। यदि वे सोचते तो निश्चय ही कोई हल ढूँढ सकते थे और बहुत सम्भव है कि वह हल रीतिकाल की जीवन दृष्टि में किंचित् परिवर्तन ला देता। यह एक ऐसी स्थिति है जिसे लेकर रीतिकवियों पर आरोप लगाया जा सकता है।

बिहारी, मतिराम और देव शृंगार-निरूपण में काफी गहरे तक उतर गए हैं। बिहारी की सतसई को ही देखें तो कहा जा सकता है कि बिहारी विलासपूर्ण वातावरण में ढल गये थे और एक स्तर पर आकर बहक भी गये थे। परिणाम हमारे सामने है, उनकी सतसई जिसमें हम देखते हैं कि समाज के प्रति कवि का कोई जागरूक भाव नहीं है। एक वाक्य में यह भी कह सकते हैं कि बिहारी ने समाज को खुली आँखों से नहीं देखा। सामाजिक सम्बन्धों का कोई सही स्वरूप रीतिकालीन कविता में दिखलाई नहीं देता है। रीतिकाल के कवि ही क्यों, रीतिकालीन समाज भी इस दिशा में प्रयत्नरत नहीं रहा कि समाज के भीतर निरन्तर फैलती जा रही विकृतियों और निरन्तर उठने वाले प्रश्नों का कोई हल ढूँढना जरूरी है। भूषण जैसा वीर रस का प्रणेता कवि भी इस दिशा में विशेष कुछ नहीं

कर पाया। "वे रीतिकाल के प्रमुख कवि थे और समाज की एक समस्या के पास पहुँच भी गए थे, किन्तु समाज को आलोडित करने की राह उन्हें नहीं मिली और वे भी बृहत् हिन्दू राष्ट्रीयता की कल्पना नहीं कर सके, केवल शिवाजी का गुण गाकर रह गये।"[11]

कहने का तात्पर्य यह है कि रीतिकाल का दोष शृंगारिकता नहीं है, और शृंगारिकता को लेकर इस पर कोई आरोप नहीं लगाया जा सकता है। आरोप लगाने के लिए शृंगारिकता में आई निर्जीवता और निष्प्राणता की स्थिति है। शृंगारी कवि तो विद्यापति भी थे किन्तु उनकी शृंगारिकता के पीछे प्रेम का स्वरूप झाँकता है जबकि रीतिकवियों की शृंगारिकता के आगे-पीछे वासना का सागर लहराता है और प्रेम की कोई उच्च मनोभूमि निर्मित होती नहीं दिखाई देती है। कहने का तात्पर्य यही है कि रीतिकाल की शृंगारिकता को लेकर उस पर कोई आक्षेप करना ठीक नहीं है क्योंकि वह तत्कालीन परिवेश और उस समय के राजाओं की मनःस्थिति का द्योतन कराती है। एक वाक्य में यह भी कह सकते हैं कि रीतिकाल यथा राजा तथा प्रजा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। अतः जब उस समय के सामन्तवर्गीय लोग अथवा राजा ही समाज की ओर ध्यान नहीं देते थे तो उनके आश्रय में रहने वाले कवि उस दिशा में क्यों सोचते? फिर इन राजाश्रित कवियों के सामने सोचने के लिए केवल एक प्रश्न था राजाओं की मनःस्थिति और देखने के लिए भी एक ही चीज थी—बड़े-बड़े महल और राजाओं के खजाने। फिर रीतिकाल के कवियों ने जो कुछ भी प्रस्तुत किया है, वह तात्कालीन परिवेश और समाज का एक बिम्ब तो है ही, भले ही वह खण्डित और विकृत ही क्यों न हो।

———

सन्दर्भ संकेत

1—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी : हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास पृ. 193

2—डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल पृ. 84–85

3—डॉ. कृष्णनारायणप्रसाद मागध : हिन्दी साहित्य युग और धारा पृ. 188

4—डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 164

5—डॉ कृष्णनारायणप्रसाद मागध : हिन्दी साहित्य युग और धारा पृ. 189

6—डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ 87

7—रामधारीसिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ 7

8—डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ. 87

9—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 226

10—डॉ. श्यामसुन्दर दास : हिन्दी साहित्य युग और धारा में उद्धृत पृ. 192

11—डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, पृ. 94

12–डॉ. हरिचरण शर्मा : आलोचना और सिद्धान्त, पृ. 391
13–आचार्य ह. प्र. द्विवेदी : हिन्दी साहित्य का उद्भव और विकास, पृ. 300
14–कृष्णनारायणप्रसाद मागध : हिन्दी साहित्य युग और धारा, पृ. 197
15–डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 176
16–डॉ. बच्चनसिंह : रीतिकालीन कवियों की प्रेम-व्यंजना, पृ. 89
17–वही : वही, पृ. 345
18–डॉ. हरिचरण शर्मा : आलोचना और सिद्धान्त, पृ. 212
19–वही, वही, पृ. 213
20–रामधारीसिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ. 8
21–वही वही, पृ. 16
22–डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ. 88
23–डॉ. हरवंशलाल शर्मा : बिहारी और उनका साहित्य, पृ. 203
24–डॉ. नगेन्द्र : रीतिकाव्य की भूमिका, पृ. 175
25–डॉ. वेद प्रकाश अमिताभ : साहित्यिक निबन्ध, पृ. 110
26–डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ. 227
27–वही : वही, पृ. 230
28–वृन्द सतसई दोहा संख्या 113
29–वही दोहा संख्या 110
30–वही दोहा संख्या 310
31–डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीति-साहित्य, पृ. 128
32–डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ. 204
33–डॉ. जयकिशनप्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 239
34–आचार्य ह. प्र. द्विवेदी : हिन्दी साहित्य उसका उद्भव और विकास, पृ. 201
35–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 229
36–डॉ. जयकिशनप्रसाद : हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ. 237
37–डॉ. जगदीश गुप्त : रीतिकाव्य-संग्रह, पृ. 61
3–वही : वही, पृ. 62
39–डॉ. महेन्द्रकुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ. 190
40–डॉ. बच्चनसिंह : रीतिकवियों की प्रेम-व्यंजना, पृ. 371
41–रामधारिसिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ. 10
42–वही : वही, पृ. 13
43–वही : वही, पृ. 4
44–रामधारीसिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ. 6

5. रीतिकाल का अन्तर्विभाजन

भक्ति काल की समाप्ति के बाद हिन्दी कविता ने नई करवट ली। भक्ति की धारा के क्षीण हो जाने पर हिन्दी साहित्य के इतिहास मे जिस काव्य-धारा का विकास हुआ उसे रीतिकाल के नाम से अभिहित किया जाता है। इस काल की अवधि संवत् 1700 से 1900 तक है। आदिकालीन गतिविधियों और विविधताओं को भक्त कवियों ने पारलौकिकता व अध्यात्म-चिन्तन से जोड़ दिया था, किन्तु परवर्ती रीति कवियों ने लौकिकता और भौतिकता का वरण करके कविता मे शृंगार, वैभव और विलास को बढ़ावा दिया। सम्भवतः इसी कारण कुछ विद्वानों ने इसे "शृंगार काल" की अभिधा प्रदान की है। इस काल के कवियों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—रीतिबद्ध, रीतिमुक्त और रीतिसिद्ध। इस काल का सारा वैभव नायक-नायिका के अंगों मे लिपटा हुआ है। इसका प्रमुख कारण राजनैतिक दासता और पराश्रित भावना थी। ये वे भावनाएँ है जिन्होंने दरबारी संरक्षण में लिखित साहित्य को "जनपथ" का साहित्य नही बनने दिया। वह "राजपथ" का साहित्य ही बना रहा। ठीक भी है जब राजाश्रित कवियो को नायिकाओं के अंग-प्रत्यंग और मोहक मुद्राओ के चित्र उतारने पर अशर्फियाँ मिलती हो तो वे जन-जीवन की ओर देख भी कैसे पाते ? रीतियुगीन कविता को यह शृंगारिकता उत्तरोत्तर बढ़ती गयी और समूचा काव्य-गगन नायक-नायिकाओं के हाव-भावो से दीप्त नक्षत्रों से भर उठा। इस सबके मूल मे तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों का हाथ रहा है।

रीतिकाल : अन्तर्विभाजन

रीतिकालीन कवियों को प्रायः तीन वर्गों मे रखा जाता रहा है। ये वर्ग हैं—रीति-बद्ध, रीति-सिद्ध एवं रीति-मुक्त कवि। रीति-बद्ध कवियो मे ऐसे कवि आते हैं, जिन्होंने लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। इनमें चिन्तामणि, मतिराम, भूषण, देव, कुलपति मिश्र, भिखारीदास, तोषनिधि एवं पद्माकर आदि का नाम उल्लेखनीय है। रीति-सिद्ध कवियों ने अलग से तो कोई लक्षण ग्रन्थ नही लिखा, किन्तु कविता लिखते समय उनका ध्यान निरन्तर लक्षण ग्रन्थो की ओर रहा है और उन्होंने अपनी कविता में रस, अलंकार एवं नायक-नायिका भेद आदि के लक्षणों को सिद्ध करके दिखा दिया है। बिहारी ऐसे ही रीति-सिद्ध कवि है। उनकी "सतसई" यद्यपि लक्षण ग्रन्थ के रूप मे नहीं लिखी गई, किन्तु उनका ध्यान लक्षणों पर रहा अवश्य है। तीसरा वर्ग रीतिमुक्त कवियों का है, जो लक्षण-

ग्रन्थों की रचना के झमेले में नहीं पड़े अपितु जिन्होंने स्वच्छन्द रहकर कविता की सर्जना की है।

पं. रामचन्द्र शुक्ल ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में रीतिकालीन कवियों को केवल दो वर्गों में रखा है—एक रीति-ग्रंथकार कवि और दूसरा रीति-काल के अन्य कवि। रीति-सिद्ध वर्ग के कवियों को शुक्ल जी ने रीति-ग्रन्थकार के अन्तर्गत ही रखा है। शुक्ल जी के "रीतिकाल के अन्य वर्ग को ही अन्य विद्वानों ने रीतिमुक्त अथवा स्वच्छन्द कवि कहकर पुकारा है। प्रतिनिधि रीति ग्रन्थकारों से इन अन्य कवियों के अन्तर एवं साम्य को शुक्ल जी ने इस प्रकार समझाया है- "ये पिछले वर्ग के कवि (रीतिमुक्त कवि) प्रतिनिधि कवियों (रीति ग्रन्थकार कवि) से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अन्तर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगार रस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं। × × × बात यह है कि इन्हें कोई बन्धन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी, ये लिख गये। रीतिग्रन्थ जो लिखने बैठते थे, उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिए पद्य लिखना आवश्यक था, जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे।"[1] रचना-शैली एवं विषय में किसी प्रकार का भेद न होने पर भी इनकी विषयानुभूति में अन्तर है। रीति-बद्ध कवियों की अनुभूति, किसी सीमा तक प्रतिबन्धित होने के कारण उधार ली हुई सी अनुभूति है, जबकि अच्छे रीति-मुक्त कवियों की अनुभूति प्रामाणिक, सहज एवं अधिक मार्मिक है। पहले वर्ग के कवि अपनी वृत्ति में आचार्य अधिक थे, दूसरे वर्ग के कवि आचार्य रहे हों या नहीं रहे हों, कवि वे अवश्य ही थे।

लक्षण-रहित काव्य रचना करने वाले कवियों को पं. रामचन्द्र शुक्ल ने[2] सात वर्गों में रखा है–

1—पहला वर्ग उन प्रेमोन्मत्त कवियों का है जिन्होंने प्रेम-माधुरी में डूबकर कविता लिखी है। अपने किशोर एवं यौवन की शृंगारपरक अनुभूतियों को वाणी दी है। इनमें रसखान, घनानन्द, आनन्द, बोधा एवं ठाकुर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

2—दूसरा वर्ग कथा प्रवन्धकों का है। इनमें सबलसिंह का महाभारत छत्रसिंह की विजय मुक्तावली, गुरुगोविन्दसिंह का चण्डी चरित्र, लाल कवि का छत्र प्रकाश, जोधराज का हम्मीर रासो, गुमान मिश्र का नैषध चरित्र, ब्रजवासी-दास का ब्रज विलास, नवलसिंह की भाषा सप्तशती, आल्हा रामायण एवं चन्द्रशेखर का हम्मीद हठ आदि कवियों एवं उनकी कृतियों का नाम लिया गया

है। इनके विषय में शुक्ल जी का विचार है कि इनमे मे "दो चार ही में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण है।"

3—तीसरा वर्ग वर्णनात्मक प्रवन्धों के रचयिताओं का है। इन्होंने कथात्मक प्रवन्धों मे ही दान-लीला, मान-लीला, जल-विहार, वन-विहार, मृगया, झूला होली वर्णन, जन्मोत्सव वर्णन एवं मंगल-वर्णन के विविध प्रसंग निकाल कर पुस्तकों की रचना की। इनकी असाहित्यिक रुचि के विषय में शुक्ल जी की धारणा है –"जहाँ कवि जी अपने वस्तु परिचय का भण्डार खोलते है—जैसे वरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ो जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पच्चीसों प्रकार के नाम और भोजन की वात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानो और मेवों के नाम—वहां तो अच्छे-अच्छे वीरो का धैर्य छूट जाता है।"

4—चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालो का है। इनमे वृन्द, गिरिधर, वाघ एवं बैताल आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्हे शुक्ल जी कवि न कहकर सूक्तिकार कहना ही अधिक उपयुक्त मानते है।

5—ज्ञानोपदेशको के वर्ग के कवियो का प्रमुख लक्ष्य बोध-वृत्ति जाग्रत करना रहा है। इन्होंने ब्रह्मज्ञान एवं वैराग्य सम्वन्धी पद्यो की रचना की है। शुक्ल जी की दृष्टि मे ये केवल पद्यकार हैं, सरस कवि नही।

6—छठा वर्ग भक्त कवियो का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद भक्तिकालीन कवियों के ढग पर लिखे हैं।

7—वीर रस की फुटकल कवितायें लिखने वालों का यह सातवां वर्ग है। इनमें लाल, सूदन, भूषण एवं पद्माकर आदि का नाम उल्लेखनीय है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शुक्ल जी ने पहले वर्ग के कवियों के अतिरिक्त अन्य वर्गों के कवियों मे वक्तव्य का लगभग अभाव पाया है। इसलिए किसी को सूक्तिकार तो किसी को पद्यकार और किसी को आश्रयदाताओं की झूठी प्रशंसा करने वाला बताकर काव्यत्व की दृष्टि से उन्हें बहुत महत्त्व नही दिया। इनमें से देश प्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन शिवाजी, छत्रसाल या महाराणा प्रताप आदि पर वीर रस की रचना करने वालों को उनकी लोकप्रियता की दृष्टि से कुछ महत्त्व दिया भी है तो इनमें से ही कुछ ने –जैसे भूषण एवं पद्माकर आदि ने—लक्षण ग्रन्थों की भी रचना की है, अतः ये रीति-मुक्त कवियों की धारा के अन्तर्गत नही आते।[3]

इस प्रकार रीतिकालीन काव्य को समीक्षकों ने तीन वर्गों मे विभक्त किया है—1. रीति-बद्ध, 2. रीतिसिद्ध और 3. रीतिमुक्त। इनमे से रीतिमुक्त कविता के सम्बन्ध में तो किसी प्रकार का विवाद नही है, किन्तु शेष दो के सम्बन्ध मे थोड़ा मतभेद रहा है। उदाहरण के लिए आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लक्षणों

तथा उदाहरणों से मुक्त सभी रचनाओं को रीति-बद्ध काव्य की संज्ञा दी है, जबकि डॉ. नगेन्द्र इन कवियों को रीतिकार अथवा आचार्य कवि मानते हैं। डॉ. नगेन्द्र का कथन है कि जिन कवियों ने अपने ग्रन्थों की रचना काव्य-शिक्षा देने के निमित्त की है या फिर जिनका लक्ष्य काव्यशास्त्रीय विषयों का सोदाहरण प्रतिपादन करना है, वे सब रीतिकार है, न कि रीतिबद्ध। डॉ. नगेन्द्र के मतानुसार रीतिबद्ध कवि वे है, जिन्होंने काव्य-सिद्धान्तों अथवा लक्षणों को ध्यान में रख कर काव्य रचना तो की है, किन्तु जिनका लक्ष्य इनका सोदाहरण निरूपण नहीं रहा है। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने ऐसे कवियों को रीतिसिद्ध कहा है। दूसरे शब्दों में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जिन्हें रीतिसिद्ध मानते हैं उन्हें डॉ. नगेन्द्र रीतिबद्ध मानते हैं और विश्वनाथ प्रसाद मिश्र जिन्हें रीतिबद्ध मानते हैं उन्हें डॉ नगेन्द्र रीतिकार मानते हैं। इस सन्दर्भ में आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र के मत का ही अधिक प्रचलन है, जो उचित भी है।

रीतिकाल के उपर्युक्त अन्तर्विभाजन के पश्चात् रीतिबद्ध, रीतिसिद्ध और रीतिमुक्त काव्यधाराओं का विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है

रीतिबद्ध काव्य

रीतिबद्ध कविता को, उसकी प्रवृत्तियों के आधार पर पुनः दो उपवर्गों में विभक्त किया जा सकता है क. सर्वांग-निरूपक तथा ख-विशिष्टांग-निरूपक। सर्वांग-निरूपक कवि वे है जिन्होंने अपनी किसी एक रचना में अथवा विभिन्न रचनाओं में सभी काव्यांगों यथा काव्य-लक्षण, काव्य-हेतु, काव्य-प्रयोजन, काव्य-भेद, काव्यात्मा, गुण-दोष, शब्द-शक्ति, अलंकार और छन्द का विवेचन किया है। सर्वश्री केशवदास, चिन्तामणि, कुलपति, सूरति मिश्र, श्रीपति, देव, भिखारीदास आदि ऐसे ही कृतिकार हैं। विशिष्टांग-निरूपक कवि वे हैं जिन्होंने सभी काव्यांगों को विवेच्य विषय के रूप में स्वीकार न करके रस, छन्द, अलंकार आदि में से किसी एक अथवा तीनों को निरूपित करने की ओर ध्यान दिया है। इनमें भी रस-निरूपण करने वालों को पुनः तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है - सभी रसों को विवेच्य विषय के रूप में ग्रहण करने वाले कवि यथा तोष, रसलीन, पद्माकर, बेनी प्रवीन, सुखदेव मिश्र, याकूब खां, उजियारे, रामसिंह, चन्द्रशेखर वाजपेयी आदि, केवल शृंगार रस के निरूपण में रमने वाले यथा सुन्दर, मतिराम, देव, भिखारीदास, उदयनाथ, कविन्द्र, चन्द्रदास, यशवंतसिंह, कृष्ण कवि आदि और शृंगार रस के आलंबन नायक-नायिकाओं के भेदोपभेदों का निरूपण करने वाले यथा कालिदास, यशोदानन्दन, गिरिधर दास आदि। अलंकार-निरूपक आचार्यों में मतिराम, भूषण, गोप, दलपतिराय, रघुनाथ, गोविन्द, दूलह वैरीसाल, सेवादास मुख्य है तो छन्दों का निरूपण करने वाले कवियों में मतिराम, सुखदेव

मिश्र, माखन, जयकृष्ण भुजंग, भिखारीदास, दशरथ, नन्दकिशोर, रामसहाय आदि उल्लेखनीय हैं।

रीतिबद्ध कविता की सर्वप्रमुख विशेषता है लक्षण-ग्रन्थों का निर्माण। इन लक्षण-ग्रन्थों में विभिन्न काव्यांगों का निरूपण किया गया है और इनका आधार रहा है संस्कृत का काव्य-शास्त्र। लेकिन काव्यशास्त्र के विभिन्न मुद्दों से सम्बद्ध चिन्तन का इनके यहाँ सर्वथा अभाव है—भिखारीदास का तुक विवेचन आदि केवल अपवाद भर हैं। वस्तुतः काव्यशास्त्रीय चिन्तन न तो उनका लक्ष्य था और न ही इस दिशा में उनकी कोई रुचि थी। उनका मूल उद्देश्य तो सामान्य पाठक को काव्यशास्त्र संबंधी सुबोध ज्ञान देना था। वे स्वयं को कवि-शिक्षक कहते एवं समझते थे—केशवदास, चिंतामणि, त्रिपाठी, कुलपति मिश्र, श्रीपति आदि अनेक कवियों ने कवि शिक्षक होने की अपनी अभिलाषा का स्पष्ट संकेत किया है। ऐसी स्थिति में उन्होंने दंडी, भामह, जयदेव, मम्मट, विश्वनाथ आदि के काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों को आधार बनाकर पद्यात्मक शैली में रूपान्तर मात्र कर दिया है। इस रूपान्तर की भी अपनी अनेक सीमाएँ हैं यथा कई स्थलों पर संस्कृत आचार्यों के मत सर्वथा अशुद्ध रूप में उद्धृत किए गए हैं।

इस वर्ग के साहित्य की दूसरी विशेषता है उसका शृंगार रस एवं स्तुति-परक होना। ये साहित्यकार कवि भी थे और अपने आश्रयदाताओं से सुखद आश्रय एवं पुरस्कार भी प्राप्त करना चाहते थे। फलतः इन्होंने काव्यांग-निरूपण के समय शृंगाररस परिपूर्ण एवम् स्तुतिपरक कवित्त-सवैयों को उदाहरण रूप में प्रस्तुत कर दिया है। शृंगारिकता तो इस काव्य का प्राण है। अपनी विलासी आश्रयदाताओं द्वारा प्रदत्त प्रोत्साहन के कारण यह शृंगार-भावना संयोग शृंगार के चित्रों से ही अधिक सजी हुई है। संयोग के नग्न चित्रों तथा नायक की धृष्टताओं का खुलकर वर्णन करने में कोई संकोच नहीं किया गया है। नारी को मात्र उपभोग की वस्तु मान लिया गया है। यही कारण है कि इस काव्य में प्रेम की उदात्त भावना का सर्वथा अभाव मिलता है।

इस काव्य में अपने आश्रयदाताओं को प्रसन्न करने के निमित्त लिखे गए दानवीरता एवम् युद्धवीरता विषयक छंद भी मिलते है, किन्तु उनमें झूठी प्रशस्ति का रंग अधिक होने के कारण प्रभावोत्पादन की क्षमता का अभाव है। इसी प्रकार से भक्ति एवम् नीतिपरक जो अंश यत्र-तत्र अनुस्यूत है, वे भी इस काव्य के मूल स्वर नहीं हैं।

रीतिसिद्ध कविता

रीतिसिद्ध कवि वे कवि है जिनका लक्ष्य कविशिक्षा विषयक ग्रन्थ लिखना नहीं था। काव्य-रचना ही उनका मूल लक्ष्य था और वे कवि होने में ही अपना

गौरव मानते थे। सेनापति, विहारी, रसनिधि, वृन्द, नृप, शंभु, नेवाज, कृष्ण कवि, हठी जी, विक्रमादित्य, रामसहाय, पजनेस, बेनी आदि इस आधार के मुख्य कवि हैं। यह काव्यधारा कई दृष्टियों से रीतिबद्ध काव्यधारा से भिन्न पड़ती है। इस धारा की पहली उल्लेखनीय विशेषता तो यही है कि ये जीवन तथा जगत के विविध क्षेत्रों से मनोनुकूल सामग्री का संकल्प कर उसे सरस रूप प्रदान करने में समर्थ थे। काव्यांग-निरूपण का बन्धन न होने के कारण इन्हें इस बात की कतई चिन्ता नहीं थी कि इनकी काव्योक्तियाँ किसी लक्षण विशेष के अनुरूप होंगी या नहीं। परिणामतः इनमें पिष्टपेषण के स्थान पर मौलिक उद्भावना की शक्ति अधिक दीखती है। इनके यहाँ ऐसे अनेक स्थल मिलते हैं जो चमत्कारपूर्ण एवं मार्मिक हैं। वे उनके स्वानुभव के प्रतिफल प्रतीत होते हैं और उनमें रसाभिव्यक्ति की अनुपम क्षमता है। विहारी इस दृष्टि से इस धारा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं—इस धारा के ही क्यों वे समूचे हिन्दी साहित्य के गौरव हैं। इस धारा के कवियों की दूसरी विशेषता यह है कि इन्होंने काव्य के कला पक्ष एवम् भावपक्ष को एक समान ग्रहण किया है। इनके यहाँ काव्यशास्त्रीय सरणि पृष्ठभूमि में रही है तथा इनका आग्रह ऐहिक जीवन के मार्मिक चित्रों के माध्यम से पाठक को रसमग्न करने की ओर रहा है। यदि इस युग के काव्य में रीतिमुक्त काव्य के बाद भावुकता के कहीं दर्शन होते हैं तो केवल इन्हीं के यहाँ। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक के शब्दों में ये "वस्तु, दृश्य या भाव चित्रण में भावुकता का आश्रय लेते हैं। शृंगार के वर्णन में संयोग और वियोग के जैसे मार्मिक चित्र इन्होंने अंकित किए हैं वैसे अन्यत्र दुर्लभ हैं। विरह का वर्णन यद्यपि ऊहात्मक शैली में ही अधिक किया गया है तथापि प्रवत्स्यपतिका और आगतपतिका नायिका के उदाहरणों में स्वाभाविक शैली से कवि की भावुकता व्यक्त हुई है। संचारियों के वर्णन में भी भावुकता के संस्पर्श मिलते हैं।"

काव्य-रूप की दृष्टि से इन्होंने प्रबन्ध के स्थान पर मुक्तक को वरीयता दी है। इस दृष्टि से संस्कृत की शृंगार मुक्तक परम्परा का इन पर पर्याप्त प्रभाव है। संस्कृत की तिलक, शृंगार शतक, चौर पचासिका आदि रचनाएँ इनकी उपजीव्य रही हैं। इन्हीं का अनुसरण करते हुए इन्होंने अपने शृंगारिक मुक्तकों की रचना की है। जहाँ तक संस्कृत के काव्य संप्रदायों का प्रश्न है इन पर उनमें से केवल तीन—अलंकार, रस और ध्वनि का ही प्रभाव परिलक्षित होता है। इनमें भी इनका सम्बन्ध ध्वनि तथा रस के साथ ही अधिक घनिष्ठ रहा है। जहाँ तक अलंकार सम्प्रदाय का प्रश्न है इन्होंने रीतिबद्ध कवियों के समान अलंकारों का सोदाहरण विवेचन तो नहीं किया है किन्तु अपने काव्य की योजना इस भाँति की है कि उसमें से अलंकार छाँटे जा सकते हैं। इस प्रकार इनके काव्य का ऊपरी

प्रावरण भले ही रीतिबद्ध कवियों के समान नही है, किन्तु ग्रन्तर्धारा के रूप में रीति पद्धति की प्रवृत्ति सहजरूपेण देखी जा सकता है।

रीतिमुक्त काव्य

रीतिमुक्त काव्य से तात्पर्य उस काव्य से है जो परम्परागत मान्यताग्रो ग्रौर रीतिबद्ध काव्य की शास्त्रीय पद्धति ग्रौर शैली से ग्रलग हटकर लिखी गई है। रीति निर्मित उत्तर मध्ययुग की साहित्यिक क्रांति है। इस सम्बन्ध मे डॉ. त्रिभुवन सिंह ने स्पष्ट लिखा है कि "रीतिमुक्त कवियो द्वारा ग्रन्वेषित नवीन मनोभूमि पर केवल ललित कल्पना का राज्य नही है, ग्रपितु वहाँ कोमल प्रणय प्रसंगों मे प्रस्पंदित जीवन-यथार्थ को परिभाषित ग्रौर विश्लेषित करने की दृढ़ स्वीकृति थी। उनकी कविता क्षणिक ग्रावेश मात्र का ग्रभिव्यक्ति नही थी ग्रपितु उसमे सम्पूर्ण रीतियुक्त की शृंगारो वासनात्मकता ग्रौर ग्रलकार, व्यामोह सृजित कवियो के सतही, ग्रगम्भीर व ग्राडम्बर की पूरी उपेक्षा के साथ मानवीय परिधि मे उदात्त संवेदन बोध की जीवन्त ग्रभिव्यजना का ग्रपराजय ग्रोत्सुक्य था।"[3] वस्तुत: रीतिमुक्त कविता नायक-नायिका भेद, भाषा चमत्कार, ग्रलंकार के घटाटोप ग्रौर कृत्रिम जीवन स्थितियों के वर्णन से ग्रलग तथा परम्परागत रीति पद्धति से ग्रलग हटकर लिखी गयी सहज निश्छल काव्यधारा थो। रीतिमुक्त कवि रीति के पाश से निर्मुक्त थे ग्रौर स्वच्छन्द भावो के गायक थे।

रीतिमुक्त काव्यधारा जिसे स्वच्छन्द काव्यधारा कहना ग्रधिक समीचीन होगा, उस काल की परम्परित काव्य-रचना के प्रति एक विद्रोह था। काव्य-शास्त्र के निश्चित नियमों के भीतर बँधकर पिटी-पिटायी उपमाग्रों, ग्रलंकार योजनाग्रों तथा भव-भंगियों की ग्रभिव्यक्ति करना इस धारा के कवियों को पसन्द नही था। वे स्वच्छन्द भाव से वैयक्तिक ग्रनुभूतियों को मुखरित करना चाहते थे, जिस पर न तो ये शास्त्र का बन्ध स्वीकार करना चाहते थे ग्रौर न तो ग्राश्रयदाताग्रों की रुचियों का ही दबाव मानने को तैयार थे। इनके लिए तो वे ग्राश्रयदाताग्रो का तिरस्कार तक करने को तैयार हो गये। इस धारा के कवियों ने काव्य को साध्य के रूप में न स्वीकार कर, प्रेम को साध्य के रूप मे स्वीकार किया है, जिसकी ग्रभिव्यक्ति के लिए काव्य साधन मात्र था। मनोवेग तथा प्रेम की स्वच्छन्दता को महत्व प्रदान करने के कारण श्रमपूर्वक ये "कविता का निर्माण" नही करते थे बल्कि ग्रपने कवित्व से ये स्वयं निर्मित थे ग्रर्थात् रीतिबद्ध कवियों की भाँति इनका व्यक्तित्व इनकी कविता से ग्रलग-ग्रलग नहीं रहता था, वल्कि इनमें ग्राकर दोनों का ग्रन्तर समाप्त हो गया था। इस धारा के कवि काव्य के नियम ग्रौर उपनियम का बन्ध स्वीकार करने को विवश नहीं थे, बल्कि ग्रपनी रचनाग्रो में उन्होने उसका बहिष्कार कर दिया था। जीवन ग्रौर काव्य दोनों की स्वच्छन्दता के ये पक्षधर

थे। इन कवियों की दृष्टि प्रेम भाव पर अधिक रही, ये अन्तर्दृष्टि से प्रेमानुभूति को पहचानने की शक्ति रखते थे और इनमें भाव तथा कला का ऐसा सहज सामंजस्य हुआ था कि उन्हें अलग करके देख पाना कठिन था। कविता करना इनके हृदय की विवशता थी जिसके लिए ये कविता करते थे। इन्होंने अपनी रचनायें आश्रयदाताओं को रिझाने अथवा अर्थोपार्जन के लिए नहीं की जो रीतिसिद्ध कवियों की सामान्य दुर्बलता रही। इनके अन्तस्तल से सवेग निकली भावधारा अपनी कल्पनाप्रवणता के साथ निसर्ग सुन्दरी कविता के रूप में प्रस्तुत हो जाती थी। इस काल के अन्य धारा के कवियों की भांति ये अपने को नारी के स्थूल सौन्दर्य तक ही सीमित न रखकर ईश्वर पर्यन्त पहुँचे।

डॉ. त्रिभुवन सिंह ने लिखा है—"स्वच्छन्द धारा के कवि काव्य के बहिरंग पथ पर बल न देकर, शब्द चमत्कार एवं आलंकारिक आंकड़े जुटाने के फेर में न पड़कर, संयोग की रंगीनियों में सोये बिना अन्तरंग पक्ष पर बल देते हुए, काव्य में अर्थ की महत्ता को स्वीकार कर, वियोग की वेदना का मूर्तिकरण करते रहे। इनके काव्य में सर्वत्र नादतत्व की गूंज देखने को मिलेगी। अपनी दृष्टि की व्यापकता और सूक्ष्मता के कारण अश्लील मुद्राओं, चेष्टाओं एवं स्थूल बाह्य सौन्दर्य का शिकार होने से ये कविगण बच गये है। ये अपनी बातें सीधे लक्ष्य तक पहुँचाना जानते थे जिससे इन्होंने दूती, सहेट तथा मान आदि का बहिष्कार किया है। सुरतान्त तथा विपरीति रति आदि कुचेष्टों से इनका काव्य मुक्त है। ये कृत्रिम व्यापारों, अस्वाभाविक चेष्टाओं तथा दूर की कौड़ी लाने से दूर रहकर प्रेम को जीवन की आन्तरिक एवं गोपन वस्तु समझते थे। अंग्रेजी के "रोमांटिक" कवियों की भाँति बुद्धि को गौण स्थान दे, हृदय की प्रधानता को स्वीकार करना इनका सहज स्वभाव था। इनमे प्राप्त रहस्य भावना और आत्म-निवेदन की प्रवृत्ति इन्हें प्रेममार्गी सूफी कवियों और फारसी-उर्दू के शायरों के निकट लाकर खड़ा कर देती है। वैयक्तिकता की इनमें पराकाष्ठा है जिससे आत्मानुभूति को महत्त्व देने के कारण इन्होंने लोकानुभूति के उपेक्षा की है। संयोग की अपेक्षा वियोग में इनका मन अधिक रमा है। ये सच्चे अर्थों में कवि थे और अपनी इसी सच्चाई के कारण रीतिपरक काव्यधारा के विरुद्ध चल पड़े थे।"[40]

"रीतिबद्ध" काव्य की विशेषताओं का विश्लेषण यहां आवश्यक नहीं है क्योंकि वह पिछले अध्याय में विवेचित हो चुका है। अतः रीतिमुक्त और रीतिबद्ध काव्य के अन्तर को समझ लेना चाहिए।

रीतिबद्ध और रीतिमुक्त काव्य में अन्तर

रीतिबद्ध काव्य के कवियों ने अपने काव्य में परम्परागत तत्वों, सिद्धान्तों को अपनाया है। वास्तव में रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों का काव्य सम्बन्धी

दृष्टिकोण दो विरोधी रेखाओं को स्पर्श करता है। रीतिबद्ध कवियो ने शास्त्रीय परम्परा को आधार बनाकर काव्य रचना की है। रस अलंकार, रीति ध्वनि, वक्रोक्ति और पिंगल की सीमा रेखा में बधकर ये कवि सिद्धान्त प्रतिपादन भी करते रहे है और कविता भी लिखते रहे हैं। वस्तुतः इन कवियो ने लक्षण ग्रन्थों की रचना की है। इसके विपरीत रीतिमुक्त कवियो ने परम्परागत मार्ग को नही अपनाया है। इन स्वच्छन्द अथवा रीतिमुक्त कवियों ने कविता को अनुभूति प्रेरित माना है और भाव को प्रधानता देते हुए भाषा को उसके बाद स्थान दिया है। यही कारण है कि एक ओर रीतिवादी केशव ने कविता कामिनी के लिए अलंकारों की आवश्यकता पर जोर दिया है और "भूपन बिनु न विराजही कविता बनिता मित्त" कहा है तो दूसरी ओर घनानन्द ने "काव्य को" जीवन की आत्मा स्वीकार किया है और कहा है "लोग है लागि कवित्त बनावत मोहि तो मेरे कवित्त बनावत" परम्परागत मार्ग का अनुसरण करने वाले रीतिबद्ध कवियों का स्वच्छन्द मार्गीय कवि ठाकुर ने तो करारा व्यंग्य किया है और यहां तक कह दिया है कि लोगो ने कविता को खेल समझ रखा है। ऐसे रीतिवादी कवि कविता को एक मिट्टी का ढेला समझते हैं और मध्य समाज के बीच फेंककर सन्तोष का अनुभव करते है।

रीतिबद्ध कवियों ने अपने काव्य को ही नही, अपनी प्रेम-भावना को भी शास्त्री परिपाटी से जोड़े रखा है। यही कारण है कि इन्होंने प्रेम मार्ग में सखी-सखा और दूती के माध्यम से प्रेम निवेदन प्रस्तुत किया है। इसके विपरीत रीतिमुक्त कवियों ने किसी माध्यम की आवश्यकता ही नही समझी है। इतना ही नही रीतिबद्ध कवियों का प्रेम, विलास की सामग्री प्रस्तुत करता है, जबकि रीतिमुक्त कवियों का प्रेम सरल, सीधा, पवित्र और उदात्त है। रीतिबद्ध कवियों के प्रेम मे सामाजिकता का निर्वाह किया गया है जबकि रीतिमुक्त कवियो के प्रेम का वैयक्तिक स्वरूप अभिव्यक्त हुआ है। सयोग और मिलन के क्षण, अभिसार प्रणय क्रीड़ाओं और वेदनाजनित स्थितियों के चित्र रीतिबद्ध काव्य में अधिक हल्के और छिछले हैं, जबकि रीतिमुक्त काव्य मे ऐसा नहीं है। रीतिमुक्त कवियो ने बाह्य सौन्दर्य के अलावा आन्तरिक सौन्दर्य और मानसिक सौन्दर्य का चित्रण भी किया है जबकि रीतिबद्ध कवियो ने ऐसा नही किया है। रीतिबद्ध कवि सामाजिक धरातल पर और रीतिमुक्त कवि धरातल पर सौन्दर्य की खोज करते रहे है। परिणाम-स्वरूप रीतिबद्ध कवियों की दृष्टि एकान्त में जीवन खोजती रही है। एक वाक्य मे कह सकते हैं कि रीतिमुक्त कवियों ने किसी भी राजा का आश्रय कभी स्वीकार नही किया है। मस्त मौला फक्कड़ और प्रेम के दीवाने बोधा ने तो यहाँ तक कह दिया है कि—

"कोय मगरूर तासों दूनी मगरूरी कीजै।
लघुता ह्वै चलै वासों लघुता निभाइये

दाता कहाँ सूर कहाँ सुन्दर प्रवीण कहा
आप को न चाहे ताके बाप को न चाहिए ॥''

''शिल्प'' के धरातल पर देखें, तो भी इन दोनों कवियों अर्थात् रीतिबद्ध और रीतिमुक्त कवियों की दृष्टि अलग-अलग रही है। रीतिबद्ध कवियों ने अलंकार और चमत्कार प्रदर्शन को अधिक महत्व दिया है, तो रीतिमुक्त कवियों ने चमत्कार प्रदर्शन के प्रति उदासीनता बरती है। वास्तव में, स्वतन्त्रता अभिव्यंजना शैली और विरोध जन्य दृष्टिकोण के साथ सरलता और सादगी को अपनाना ही रीतिमुक्त कवियों के शिल्प की विशेषता है। रीतिमुक्त का सीधा सा अर्थ है–रीति अर्थात् बन्धन अर्थात् परिपाटी से मुक्त और रीतिबद्ध का अर्थ है–रीति से युक्त। रीति से मुक्त होने के कारण ही घनानन्द, बोधा, ठाकुर और आलम को स्वच्छन्द काव्यधारा का कवि भी कहा जाता है। रीतिकाल के अन्तर्गत जो रीतिमुक्त काव्यधारा प्रवाहित हुई, उसकी अपनी पृथक विशेषताएँ हैं। ये विशेषताएँ रीतिबद्ध काव्य से अलग हैं और इसी कारण यह काव्यधारा समूचे रीतिकाल में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व और महत्व रखती है।

रीतिमुक्त काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियाँ

रीतिकाल में जो रीतिमुक्त काव्यधारा प्रवाहित हुई उसके अग्रदूत रसखान और आलम थे, किन्तु उसके पुरस्कर्ता घनानन्द, बोधा, ठाकुर और द्विजदेव आदि कवि थे। ये सभी कवि शृंगार की रचनाएँ करते थे, किन्तु इनका शृंगार-वर्णन राजाओं की इच्छा, उनके सन्तोष और युग में प्रवाहित स्वर-लहरी में अपना स्वर मिलाने के उद्देश्य से नहीं था। वास्तव में, ये ऐसे कवि थे जो अपनी मनोतरंगों पर थिरकते थे, प्रेम के पपीहे थे और किसी भी रीति अथवा शास्त्र के बन्धन को स्वीकार नहीं करते थे। इनकी यह स्वतन्त्रता केवल काव्य के भाव पक्ष तक सीमित नहीं थी, बह तो कला-शिल्प के क्षेत्र में भी अपनी स्वतन्त्रता, मौलिकता और स्वच्छन्दता लिए हुए थी। इन कवियों के काव्य में प्रेमानुभूति भी है, विरहानुभूति भी है, संयोग और वियोग के चित्र भी हैं, किन्तु अनुभूति की सघनता और तीव्रता सर्वोपरि है। ऐसे काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने से पूर्व इन कवियों के काव्यगत दृष्टिकोण को समझ लेना भी आवश्यक है।

काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण :

रीतिमुक्त कवि प्रेम सौन्दर्य और वियोगानुभूतियों के कवि थे। इनका प्रेम निर्बन्ध और स्वच्छन्द था। उसमें न तो काव्यशास्त्री आचारों और मर्यादाओं के लिए कोई बन्धन स्वीकृत था और न कोई आरोपण ही अपना प्रभाव जमा सकता था। यही कारण है कि इन कवियों का प्रणय-निवेदन रीतिबद्ध कवियों से अलग है। काव्य के विषय में इनका अपना दृष्टिकोण था और यह दृष्टिकोण भी रीतिबद्ध कवियों से अलग था। इनके काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण के अन्तर्गत अग्रांकित प्रमुख बातें आती है —

1. रीतिमुक्त कवि रीति के संकीर्ण मार्ग पर चलना नहीं चाहते थे। वे तो काव्य-मंदाकिनी के मार्ग को अधिकाधिक प्रशस्त करने के अभिलाषी थे।

2. रीतिमुक्त कवि काव्य को स्वानुभूति-प्रेरित मानते थे। उनकी धारणा थी कि कविता हृदय की गहराईयों से फूटती है और किसी भी स्थिति में वह मस्तिष्क का व्यायाम नहीं हो सकती अपने इसी दृष्टिकोण के कारण इस धारा के कवियों ने रीतिबद्ध काव्य को अच्छी दृष्टि से नहीं देखा है। ठाकुर जैसे कवि ने बड़ी खीझ के साथ रीतिबद्ध कवियों को फटकारते हुए लिखा है—

"सीख लीन्हो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीख लीन्हों यश और प्रताप को कहानी है।
सीख लीन्हों कल्प वृक्ष कामधेनु चिन्तामणि,
सीख लीन्हो मेरू और कुबेर गिरि आनी है॥
ठाकुर कहत याको बड़ी है कठिन बात,
याको नहीं भूलि कहूं बांधियत बानी है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥"

3. रीतिमुक्त धारा के कवि अपने आपको क्रमागत एवं समसामयिक काव्य प्रवृत्ति से अलग मानते थे। घनानन्द जैसे कवि ने अपने पार्थक्य को इन शब्दों में स्पष्ट किया है —

तीछन ईछन बान बखान सौ पेनी दसाहि लै सान चढ़ावत।
प्रानिन प्यास भरे अति पानिय मायल घायल चोप चढ़ावत।
हैं घनाअनन्द छावत भावत जान सजीवन और तें आवत।
लोग हैं लागि कवित्त बनावत मोंहि तो मेरे कवित्त बनावत॥

घनानन्द ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कवित्त रचना मेरा साध्य नहीं है, वह तो साधन मात्र है। साध्य तो साधन से बड़ा है। वास्तव में सुजान के प्रति उनका उत्कृष्ट प्रेम ही उनका सब-कुछ था। अतः सुजान ही उनके काव्य में क्रांति का सृजन करती थी।

4. रीतिबद्ध कवियों ने छोटी-छोटी सिद्धियों को ही अपने काव्य का लक्ष्य मान लिया था, जबकि रीतिमुक्त कवि छोटी सिद्धियों को तुच्छ और उपेक्षणीय मानते थे। कैसी विडम्बना है कि केशवदास, सेनापति जैसे कवि तो यह लिखते हैं कि—

(i) जदपि। सुजाति सुलच्छनी सुबरन सुरस सुवृत।
भूषण बिन विराजई कविता निता मित्त॥

(ii) सेवक सिपवयति को सेनापति कवि सोई।
जाकी द्वै अरथ कवित्ताई निरवाह की।

(iii) दूषण को करि कै कवित्त बिन भूषण को।
जो करे प्रसिद्ध ऐसो कौन सुरमुनि है।

(iv) बानी सो सहित सुवरन मुँह रहैं जहाँ
धरति बहुत भाँति अरथ समाज को।
संख्या करि लीजै अलंकार हैं अधिक यामें
राखो मति ऊपर सरस ऐसे साज को॥

और स्वच्छन्द काव्यधारा के घनानन्द, बोधा, ठाकुर और आलम जैसे कवि काव्य को स्वतः स्फुरित, प्रेम को उदात्त तथा सौन्दर्य को निश्छल मानते थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है कि स्वच्छन्द काव्य भाव-भावित होता है, बुद्धि बोधित नहीं, इसलिए आन्तरिकता इसका सर्वोपरि गुण है। आन्तरिकता की इस प्रवृति के कारण स्वच्छन्द काव्य की सारी साधन सम्पति शासित रहती है और यही वह दृष्टि है जिसके द्वारा इन कविताओं की रचना के मूल उत्स तक पहुँचा जा सकता है।

5. रीतिमुक्त कवियों ने अनुभूति तत्व को सर्वोपरि प्राथमिकता दी है अलंकरण और चमत्कारवादी उक्तियाँ उनके लिए महत्वपूर्ण रही हैं। रीतिकाव्य मे बुद्धि (भंगिमा या अलंकृति) को पट्ट-महिषी का पद प्राप्त हुआ था और भावानुभूति को दासी का। रीतिमुक्त काव्य धारा मे रीतिबद्ध काव्य का उपर्युक्त क्रम उलट गया है। घनानन्द ने स्पष्ट लिखा है कि उनके काव्य मे हृदय रानी की तरह उच्च पद पर आसीन है और बुद्धि हृदय की दासी है—"रीतिमुक्त सुजान सची पटरानी बची बुधि बापुरी ह्वै करि दासी।"

6. रीतिमुक्त काव्य के रचयिताओं का यह आदर्श था कि भावावेग ही सब-कुछ है। इस आवेग के सामने काव्यरीति, कुल-मर्यादा और लोक-लाज के समस्त बन्धन शिथिल होकर टूट जाते है। बोधा ने कहा भी था कि यदि बन्धन और मर्यादा के चक्कर मे पड़ना है तो इस मार्ग पर कदम ही नही रखना चाहिए। बोधा की इस बात का असर हुआ और इस मार्ग पर बहुत से लोग अपने पैर नहीं रख पाए। "इस पथ पर आने वाले थोड़े ही थे चुने हुए, किन्तु सच्चे जवाँ मर्द। प्रेम की पीर मर कर नही जीवित रह कर झेलने वाले जीते जी मृत्यु को वरण कर लेने वाले जैसे घनानन्द, कुल और धर्म को तिलांजलि दे देने वाले रसखान और बोधा। ये कवि काव्यरीति को पकड कर भला क्या चलते। इन स्वच्छन्द कवियो के काव्य का क्या आदर्श था, उसके परखने की कसौटी क्या है, इसे घनानन्द के कवित्तो के संग्रहकर्ता ने बहुत मर्मज्ञता से व्यक्त किया है। उन्होंने कहा है कि घनानन्द सरीखे निर्बन्ध प्रेमी के गूढ़ प्रेम-भाव-भरित काव्य को समझने मे साधारण व्यक्ति समर्थ नहीं। उसे तो प्रेम की तरंगिणी में भलीभांति डूबा हुआ व्यक्ति ही समझ सकता है फिर उस व्यक्ति को ब्रज भाषा का भी अच्छा जानकार

होना चाहिए और नाना प्रकार के सौन्दर्य भेदों मे अभिज्ञ भी। उसे संयोग और वियोग की स्थितियों एवं असख्य अन्तर्वृत्तियों को समझने की शक्ति सम्पन्नता भी अपेक्षित है। किन्तु इन सारी विशेषताओ से भी विशेष जो विशेषता उसमें होनी चाहिए वह यह कि उस काव्य रसास्वादक का हृदय अहिनिश प्रेम के तरल रंग मे सराबोर होना चाहिए तथा वियोग और संयोग दोनों स्थितियों मे अतृप्त, अशान्त रहने वाला होना चाहिए और चित्त का स्वच्छन्द, निबन्ध होना चाहिए। तभी वह घनानन्द के काव्य के मर्म तक पहुँच सकता है। जिसने चर्म चक्षुओ से नही अन्तश्चक्षुओ से, हृदय की आंखो से प्रेम की पीड़ा देखी हो, सही हो, वही घनानन्द की कृतियो में अन्तर्व्याप्त वेदना का मर्म समझ सकता है, मात्र शास्त्र ज्ञान-प्रवीणता से काम चलने वाला नही। जिसके हृदय की आखें नही खुली हैं वह घनानन्द की रचना को अन्य साधारण अथवा रीतिबद्ध कवियो की रचना मात्र समझ कर रह जायगा।"

"जग की कविताई के धोखे रहैं ह्यां प्रवीनन की मति जाति जकी।
समुझै कविता घनआनन्द की हिय आँखिन नेह की पीर तकी॥"

7. स्वच्छन्द काव्यधारा के कवियों के काव्य मे जिस प्रकार उनका काव्य सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है, उसमें भावप्रवणता भी उनकी विचारधारा को प्रस्तुत करती है। कवित्व उनका साध्य न होकर अन्त.करण की भावराशि को मुक्त भाव से व्यक्त कर देने का सहारा था।

8. रीतिमुक्त कवि हृदय की मुक्तावस्था प्राप्त कर, रस दशा को पहुँचे हुए कवि थे। इन्होंने अपनी अन्तःस्चेतना की अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह सहज वक्रता और अकृत्रिमता लिए हुए है। इन कवियों की इस विशेषता और इस दृष्टिकोण को लक्ष्य करके आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने लिखा है—"ये वासना से पंकिल राजाओ के मानस को रंजित करने वाले चाटु-कार नही थे। ये अपनी उमंग के आदेश पर थिरकने वाले थे। जग के कवि, काव्य के बहिरंग मे ही लिपटे रह गये, उसके अन्तरंग में प्रविष्ट नहीं हुए। इसी से स्वच्छन्द कवि हृदय की दौड़ के लिए राजमार्ग चाहते थे, रीति की संकरी गली मे धक्कम-धक्का करना नही। ये कविता की नपी-तुली नाली खोदते वाले न थे। ये काव्य का उत्स प्रवाहित करने वाले या मानस रस का उन्मुक्त दान देने वाले थे। पश्चिमी समीक्षकों के ढंग से कहे तो रीतिबद्ध कर्ता की कृति चेतनावस्था मे गढ़ी जाती थी और रीतिमुक्तकर्ता की कविता अन्त.संज्ञा मे लीन हो जाने पर आप से आप उद्भूत होती थी। रीतिमुक्त कवि का काव्य स्रोत स्वतः उद्भावित होता था। रीतिबद्ध कवि की काव्य प्रणाली उसकी बुद्धि के संकेत पर टेढ़े सीधे मार्ग पर बहती थी, पर रीतिमुक्त या स्वच्छन्द कवि अपनी भाव धारा में स्वतः बह जाता था। इस प्रकार दोनों का अन्तर स्पष्ट है।"[6]

9. रीतिमुक्त कवि दरबारदारी से दूर थे। वे काव्य-सम्प्रदायों से मुक्त होकर काव्य-रचना करने में विश्वास करते थे। इनका लक्ष्य मनोहर काव्य-सृष्टि करना और उसी में अपने मन के बोझ को हल्का करना था। आत्माभिव्यक्ति करते हुए आत्मविकास करना ही इनका अभीष्ट था। इन्हें न तो पद की चाह थी और न यश और धन की लिप्सा थी। ठाकुर, घनानन्द और बोधा ने राज्याश्रय को ठोकर मारकर अपने स्वाभिमान और अपने चित्त की स्वच्छन्दता का परिचय दिया था।

10 रीतिमुक्त कवि काव्य रचना के दौरान अपने व्यक्ति वैशिष्ट्य को सुरक्षित रखना चाहते थे। इनकी रचनाओं में व्यक्ति विशिष्टता, स्वाभिमान और अपने बनाये हुए मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। इसी कारण इनकी प्रेमभावना, वियोगानुभूति और कला चेतना स्वतन्त्र और अपना उपमान आप है।

रीतिकाल के रीतिमुक्त कवियों की काव्य विषयक दृष्टि के स्पष्टीकरण के पश्चात् अब इस काव्यधारा की प्रमुख प्रवृत्तियों का विश्लेषण किया जा सकता है।

प्रेम की मार्मिक व्यंजना

स्वच्छन्द कवियों का मूल वक्तव्य प्रेम है। इसी मूलवर्ती संवेदना से उनका सम्पूर्ण काव्य स्पन्दित है चाहे वह मुक्तकों के रूप में लिखा गया हो, चाहे आख्यान के रूप में। आख्यान रूप में संवेदित किये जाने पर भी प्रेम ही समूची कथा का मूल तत्व, सूत्र और वर्ण्य मिलेगा। मुक्तकों में तो वक्तव्य विषय से इधर-उधर जाने की गुन्जाइश नहीं, परन्तु प्रेम की सुरा पीकर छके हुए ये कवि प्रबन्धों में भी लक्ष्य से इधर उधर नहीं हुए हैं। जो कुछ प्रेम का पोषक और विकासक नहीं, वह इनके काव्यों से बहिर्गत कर दिया गया है। इस प्रेम वर्णन का वैशिष्ट्य इस बात में है कि वह स्वानुभूति प्रेरित है। इनकी प्रेम व्यंजना इनकी निजी प्रेम भावना की अभिव्यक्ति है उसमें स्वानुभूति हर्ष विषाद व्यक्त हुआ है, आरोपित या कल्पित-प्रणय निवेदन नहीं है।[7] प्रेम की मार्मिक व्यंजना इस धारा की सबसे बड़ी विशेषता है। प्रेम की गूढ़ अन्तर्दशाओं का चित्रण जैसा इन कवियों में प्राप्त होता है, वैसा रीतिबद्ध तथा अन्य शृंगारी कवियों में नहीं। रीतिबद्ध कवियों के समान इनका प्रेम बैठे ठाले का प्रेम नहीं है। वह केवल बाहरी-उछल कूद में नहीं चुकता, अन्तर को भिगोता है। न वह केवल रसिकता का ही पर्याय है। उसमें किसी बिचौलिये की अपेक्षा भी नहीं है, अतः प्रेमी प्रेमिका के बीच न कोई दूती आती है और न सखी। वह तो इनके अन्तर में उद्भूत सहज किन्तु मार्मिक गुहार है। निष्कपटता एवं सरलता ही उसका गुण है—

अति सूधो सनेह को मारग है, जहँ नेकु सयानप बांक नहीं।
तहँ सांचे चले तजि आपुनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाक नहीं ॥

प्रेम में सयानपन, बांकपन एवं शंकर के लिये स्थान कहां ? प्रिय की रूप-माधुरी के प्रति आकृष्ट प्रेमी मन मे धैर्य, लाज एव कुल की मान-मर्यादा के लिये तो स्थान बचेगा ही कहाँ, जब उसकी बुद्धि को भी हृदय की दासी बनना पड़ता है—

रूप चमूप सज्यो दल देखि, भज्यो तजि देसहि धीर-मवासी।
नैन मिले उर के पुर पैठनै, लाज लुटी न छुटी तिनका सी ॥
प्रेम दुहाई फिरी घन आनन्द, बाँधि लिये कुल-नेम गुढ़ासी।
रीझि सुजान सची पटरानी, बची बुधि बापुरी ह्वै कर दासी ॥

इस प्रेम की एक बड़ी विशेषता यह है कि यह प्रेम सामान्य नहीं, विशिष्ट है। तभी इतनी प्रेम-व्यंजना इतनी मार्मिक एवं तीव्र बन पड़ी है। तुलसी के 'चातक प्रेम' की सी प्रवृत्ति यहां भी है—

घन आनन्द प्यारे सुजान सुनो, इत एक तें दूसरो आंक नहीं।
तुम कौन सी पाटी पढ़े हो लला, मन लेहु पै देहु छटांक नहीं ॥

'ठाकुर' कवि तो उन कानों को धिक्कारते हैं जो सांवरे के प्रेम के अतिरिक्त कोई अन्य चर्चा भी सुनें, उस जिह्वा को हलाहल में डुबोने के लिये तैयार हैं जो सांवरे को छोड़कर किसी अन्य गौरांग की ओर देखें—

धिक कान जो दूसरी बात सुनैं, अब एक ही रंग रहो मिलि डोरो।
दूसरो नाम कुजात कढ़ै, रसना जो कहै तो हलाहल बोरों ॥
ठाकुर यों कहती ब्रज लाल सु ह्या बनितान को भाव है भोरो।
ऊधो जी वे अँखियां जरि जायँ जो सांवरो छांड़ि तकैं तन गोरो ॥

प्रेम : जीवन साधना :

रीति-स्वच्छन्द शृंगार-काव्य का मूलाधार 'प्रेम' है। इन कवियों की प्रेमभावना विशिष्ट थी। इनका प्रेम स्वच्छन्द है, लोकलाज, कुलधर्म एवं शास्त्रीय परम्पराओं से घिरा नहीं है। इनका प्रेम 'यमुना तीर' और 'कुंजों' तक सीमित रहने वाला नहीं है। इनके प्रेम का निवेदन सखी, सखा या दूतियां नहीं करतीं और न ही वे इन कवियों तक रूप-सौन्दर्य, विरहवेदना आदि के सन्देश लाकर इनमें किसी के प्रति रुचि या करुणा ही जाग्रत करती हैं। इनमें रुचि आप जगती है, ये प्रेम का निवेदन आप करते है।[8] इनके लिए प्रेम बैठे ठाले का मनोरंजन नहीं, विलास का एक अंगमात्र नहीं, जीवन की साधना है, ऐसी साधना जो सबके बस की बात नहीं है—

अति छीन नाल तारहु ते तेहि ऊपर पांव दे आवनो है।
सुई वेह ते द्वार सकीन तहां परतीति को टांड़ो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहू ते चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवार की धार पै धावनो है॥

यही कराल-पंथ प्रेमी की अडिग आस्था और सहनशीलता से 'सरल' भी हो जाता है—'अति सूधो सनेह को मारग है जहँ नेकु सयानय बांक नहीं।' रीतिवद्ध काव्य मे प्रेम का रूप वासनात्मक है, एक व्यक्ति अनेक से प्रेम करने का ढोंग करता है, लेकिन इन कवियों के प्रेम विषयक आदर्श महान और उदारता है—

'जो न मिलो दिलमाहिर एक अनेक मिलै तो कहा करियै लै।' 'बोधा'
'हमको वह चाहै कि चाहै नहीं हम चाहिए वाहि विथा हर है।' 'घनानन्द'

प्रेम की विषमता का निरूपण :—

रीतिमुक्त कवियो ने प्रेम की विषमता का चित्रण बड़े विस्तार से किया है। इस चित्रण को इन कवियो की निजी अनुभूतियों का सहज प्रकाशन कहा जा सकता है। वास्तव में यह विषमता इसलिए है कि प्रेमी प्रिय को जितना चाहता है, उसके लिए जितना तडपता है, प्रिय प्रेमी के लिए उतना नही। "स्वच्छन्द प्रेम धारा के कवियो ने प्रेमगत इस वैशिष्ट्य को सविशेष रूप से अपने काव्य में चित्रित किया है। प्रेमी के प्रेम की तीव्रता, अनन्यता, निरन्तरता आदि दिखाना ही इसका लक्ष्य है, प्रिय को क्रूर और दुष्कर्मी दिखाना नही। प्रिय को निठुर, उपेक्षापूर्ण, दुःख और पीडा से अनभिज्ञ, सहानुभूतिशून्य कहा और दिखाया गया है, पर वह सब प्रेमी की प्रेम-पिपासा को तीव्रतर करने के ही उद्देश्य से। इन प्रेमियों ने प्रिय को दुष्ट और दुराचारी कह कर अपने प्रेम को उपहासास्पद नहीं बनने दिया है। प्रिय भूलता है, परवाह नही करता, उनके दु.ख को नही समझता, इस पर स्वच्छन्द कवियों ने उसे उपालम्भ दिया है, प्रिय के इस प्रकार के आचरण में अपना दोष देखा है, भाग्य को कारण ठहराया है, पर प्रिय को छोड़ने या भूलने की धमकी नही दी है। इस प्रकार स्वच्छन्द कवियों ने प्रेमी की उदात्त मनोवृत्तियो का परिचय दिया है, हृदय की किसी तुच्छता या ओछेपन का नहीं। यह प्रेम-विषमता लगभग सभी कवियो के काव्य मे आई है तथा नाना प्रकार की अन्तर्वृत्तियो की अभिव्यंजक हुई है।"[9] प्रिय का निष्ठुर होना प्रेमी को दीन-हीन एवं करुण स्थिति मे ला पटकता है। इस स्थिति की मार्मिक और प्रभावी व्यंजना निम्नांकित पंक्तियो मे देखी जा सकती है—

(1) नैननि के तारे तुम न्यारे कैसे होहु पीय
पायन की धूरि हमैं दूरि कै न जानियै।

(2) जा दिन तें तुम चाहे लोग कहैं पीरी काहे
पीरो न जनैयै पल पल जिय जरियै।
घूँघट की ओट आँसू घूँटिबो करत नैना
उमगि उसाँस कों लौं धीरज यों धरियै॥

(3) देखे टक लागै अनदेखे पलकौ न लागै
देखे अनदेखे नैना निमिष रहित है।
सखी तुम कान्ह हो जु आन की न चिन्ता, हम
देखेहु दुखित अनदेखेहु दुखित है।

प्रेम की यह विषमता घनानन्द के काव्य में चरम सीमा तक दिखलाई देती है। वास्तविकता यह है कि प्रेमजनित वैषम्य से ही घनानन्द की प्रेमभावना निखर उठी है। घनानन्द के सम्बन्ध मे यह बिना किसी संकोच के कहा जा सकता है कि विषमता उनके प्रेम भाव की पृथक् और उल्लेख्य विशेषता है। उनके काव्य में प्रेमी प्रिय के प्रति जितना समर्पित और आसक्त है, प्रिय उसकी उसी सीमा तक उपेक्षा करता है। इससे अधिक विषमता और क्या होगी कि एक ओर तो गहरा समर्पण है और दूसरी ओर छल और धोखा है। एक के स्वभाव मे विस्मरण करना है और दूसरे के स्वभाव मे विस्मरण की प्रवृत्ति चरम सीमा तक पहुँची हुई है। "इत बांट परि सुध, रावरे भूलनि" जैसा पद इसका उदाहरण है। कुछ उदाहरण देखिए—

1– दुख दै सुख पावत हौ तुम तौ, चित के आयें हम चिन्त लहौ।
2– पहिलें घनआनन्द सींचि सुजान कही बतियाँ अति प्यार पगी।
अब लाय बियोग की लाय, बलाय बढ़ाय, बिसास दगनि दगी॥
3– क्यो हँसि हेरि हर्यौ हियरा अरू क्यों हित कै चित चाह बढाई।
4– तब तौ छबि पीवत जीवत है, अब सोचनि लोचन जात जरे।
5– पहिलें अपनाय सुजान सनेह सो क्यों फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार मँझार दई गहि बाँह न बोरियै जू॥
6– चाही अनचाही जान प्यारे पै अनन्दघन
प्रीति रीति विषम सु रोम-रोम रमी है।

इस प्रकार घनानन्द मे यह प्रीति की विषमता पद-पद पर मिलेगी। उनके कवित्त-सवैयों का तो सारा बंधान प्रेम वैषम्य पर ही आधारित है। प्रिय का आचरण, उसका स्वभाव, उसकी बोली, उसके कर्म, उसकी हँसी, उसका प्रेम, उसका आश्रय, उसका आदान-प्रदान सभी कुछ कुटिलता और विपरीतता से भरा हुआ है। भला ऐसे प्रिय का प्रेमी सुख कैसे पा सकता है। यही कारण है कि घनानन्द और उनके सहयोगी रीतिमुक्त कवियों मे विरह, पीड़ा और वेदना का प्राधान्य है। इस व्यापक रूप से प्राप्य गुण प्रेम-वैषम्य के रीतिमुक्त काव्य मे

आविर्भाव के कारण की भी संक्षेप में टोह हो जानी अप्रासंगिक न होगी ।[10] विवेचकों ने घनानन्द आदि स्वच्छन्द प्रेमियों की ऐसी उक्तियों में-तुम तो निह-काम, सकाम हमे, घनआनन्द काम सौं काम पर्यो–भागवत के कृष्ण की आप्त-कामता और उनके प्रति की गई माधुर्य-भक्ति का प्रभाव देखा है ।[11] जो हो, यह तो निर्विवाद ही है कि सूर आदि द्वारा चित्रित गोपीकृष्ण प्रेम-प्रसंग ही रीतिकाल के अन्त तो क्या आधुनिक काल के प्रारम्भ तक इस अपरिहार्य प्रभाव का मूल कारण रहा है । प्रेम-वैषम्य की जो स्वीकृति वहाँ भागवत के प्रभाववश थी वही परम्परित रूप मे घनानन्दादि स्वच्छन्द प्रेमियों द्वारा गृहीत हुई ।[12]

भावानुभूति से सम्पृक्त प्रेमः—

रीतिमुक्त स्वच्छन्द-कवियों का प्रेम भावानुभूति से संपृक्त है। तभी तो प्रिय का प्रथम दर्शन ही प्रेम की इन्द्रियों पर रीझ का जादू-सा कर देता है, वे चेतनाहीन हो जाती हैं और प्रारम्भ से अन्त तक एक विकलता ही हृदय पर छाई रहती है । इन प्रेमोन्मत्त कवियों के मानस में काम की ग्रन्थि नहीं है । प्रेमानुभूति का यहाँ सीधा और सहज विश्लेषण किया गया है । प्रेमी की दृष्टि प्रतिपल प्रेम-रंजित बनी रहती है, आँखें ही उसके प्रेम की साक्षी है जिनमें चाह की मीठी पीर उठती है । वेदना की मार्मिकता और मौन सहिष्णुता उसकी तीव्रता की परिचायक हैं । सचमुच यह प्रेम इन कवियों की साधना है, भोग का विकास या मन का उद्वेग नहीं । ज्ञान-साधना से भी आगे इसकी पदवी परम ऊँची है, प्रेम के इस अनूठे पथ पर भूल या भुलाकर ही बढ़ना होता है, चेतना में तो थकान ही सम्भव है—"जान घनआनन्द अनोखे यह प्रेम-पंथ भूले से चलत रहैं सुधि के थकित व्है ।" बस यही भुलावा या बेसुधि यहाँ विरह के आतिशय्य की हेतु तथा प्रेम की आधार शिला है। उसमें जितनी प्रगाढ़ आसक्ति है, उतनी ही उसके सुदृढ़ निर्वाह की क्षमता है । तभी तो प्रेमी भावना रूपी थाल में हृदय रूपी दीपक को संजोता है और उसमें स्नेह रूपी तेल के सहारे वियोग-व्यथा रूपी बत्ती को जलाकर प्रिय की आरती उतारता है :

> नेह सों मोय संजोय धरी हिय-दीप दसा जु भरी अति आरति ।
> भावना-प्यार हुलास के हाथनि यो हित-मूरति हेरि उतारति ।।

वियोग की प्रधानताः—

रीतिमुक्त कवि प्रेम की पीर के मर्मी कवि है, विरह इनके काव्य की अमूल्य निधि है और प्रेम की यह पीर तथा विरह का गौरव सूफी-कवियों का प्रति-पाद्य विषय है तथा प्रिय की निष्ठुरता एवं प्रेम की जिस विषमता की प्रवृत्ति यहाँ उपलब्ध होती है, वह तथ्यतः फारसी-साहित्य की अपनी विशेषता है ।

भस्तु, देखना यह है कि किस प्रकार इनकी स्वच्छन्द-प्रवृत्ति उनके साथ साम्य स्थापित करके भी अपनी मौलिकता से साहित्य को अभिमण्डित कर सकी घनआनन्द का प्रेम विषम ही है, किन्तु सूफी-साहित्य में प्रेम की यह विषमता अपने उत्कर्ष पर सम में परिणत हो जाती है, प्रेमी और प्रिय का वहाँ सम्मिलन हो जाता है। किन्तु, यहाँ तो "मन लेहु पै देहु छटांक नहीं" की स्थिति है, प्रेमी का मन फगुवा देकर गारी के लिए भी तरसता रहता है। भारतीय-परम्परा में सम-प्रेम के ही दर्शन होते हैं, एकनिष्ठ या विषम-प्रेम को "रसाभास" ही माना गया है—''रतौ तथा अनुभयानिष्ठायाम्"—साहित्य-दर्पण। किन्तु, प्रेम-वृत्तिका जो उत्कर्ष, भाव का जो मर्म-स्पर्श तथा अनुभूति का जो विशुद्ध रूप विषमता या एकनिष्ठता में मिलता है, वह सौष्ठव सम-प्रेम में उद्भूत नहीं हो पाता। प्रेम की गहराई तथा भाव की मर्मस्पर्शिता के लिए ही विषमता के दर्शन फारसी-साहित्य में अत्यधिक होते हैं। वहाँ प्रिय के निर्मोह एवं निष्ठुरपन का ही अत्यधिक निरुपण हुआ है, जिसके कारण उनकी प्रेमाभिव्यक्ति में अनूठा लावण्य आपूरित हो गया है। वियोग का प्राधान्य इन स्वच्छन्द कवियों की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रेम का निखार विरह में ही होता है। विरह में ही प्रेम रंग लाता है। विरही ही अनन्य प्रेम का पुजारी होता है। प्रेम विरह में ही अपनी पराकाष्ठा को पहुँचता है। इस सिद्धान्त को स्वच्छन्द धारा के कवियों ने एकमत होकर स्वीकार किया है।

"कवियों के लिए प्रेम ही जीवन था फलतः विरह उनका अविच्छेद अंग और इसलिए विरह का चित्रण उन्होंने विशेष अभिनिवेश से किया है। रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों में यह विरह असाधारण विस्तार से वर्णित है। रसखान और द्विजदेव में यह अपेक्षाकृत कम है, आलम और ठाकुर में विशेष तथा बोधा और घनआनन्द में तो असाधारण रूप से अधिक। अन्तिम दो कवियों के काव्य में यदि विरह वहिगत कर दिया जाय तो फिर उनके काव्य में देखने लायक कुछ रह जायगा इसमें सन्देह है। हमारे कहने का आशय यह है कि स्वच्छन्द कवियों में वियोग भावना की प्रधानता या अतिशयता है। यह अतिशयता दो कारणों से है—एक तो यह कि इनका प्रेम इनके अन्तःकरण से निकला हुआ आवेग है, रीतिबद्धों की तरह आरोपित नहीं, दूसरे इनमें से प्रत्येक, ने स्वानुभव द्वारा यह निष्कर्ष प्राप्त कर लिया था कि विरह ही सच्चा प्रेम है। जिसने विरह व्यथा का अनुभव नहीं किया, वह प्रेमपंथ का सच्चा पथिक नहीं। हृदय और बुद्धि दोनों से वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे थे।"[18] यह वियोग, यह व्यथा इनके जीवन में इस कदर घुल-मिल गई थी कि वह इन्हें छोड़ती न थी। ये भी उसे छोड़ कर सुखी न रह सकते थे। इसीलिए इन्हें अपनी व्यथा और तड़पन पर

बहुत गर्व भी है। संसार के प्रसिद्ध प्रेमियों मीन और सलभ के प्रेम का ये तिरस्कार करते हैं क्योंकि इन प्रेमियों में वह साहस और सहिष्णुता कहाँ जो सच्चे प्रेमी मे होनी चाहिए। ये प्रेम की रीति नहीं समझते, प्रेम मे जलना होता है और तड़पना होता है और जलते तड़पते जीना होता है। ये प्रेमी तो कायर हैं और असहनशील हैं जो ज्वाला और तड़पन से भयभीत हो अपने प्राण ही विसर्जित कर देते हैं —

(1) हीन भए जल मीन अधीन कहा कछु मो अकुलानि समानै।
नीर सनेही कों लाय कलंक निरास है कायर त्यागत प्रानै॥

(2) मरिबो बिसराम गनै वह तो यह बापुरो मीत-तज्यो तरसै।
वह रूप-छटा न सहारि सकै यह तेज तवै चितवै बरसै॥

—घनानन्द

अपनी वेदना सहने की इस शक्ति पर उन्हें नाज भी कम नहीं—
आसा गुन बाँधि के भरोसो-सिल धरि छाती

पूरे पन-सिन्धु मे न बूड़त सकायहौ।
दुख दव हिय जारि अन्तर उदेग आंच,
रोम रोम त्रासनिनिरन्तर तचायहौं॥
लाख लाख भाँतिन की दुसह दसानि जानि,
साहस सहारि सिर आरे लौं चलायहौं।
ऐसे घनआनन्द गही है टेक मन माहि,
एरे निरदई। तोहि पया उपजायहौं॥

—घनआनन्द

स्वच्छन्द धारा के कवियों की विरह-वर्णन पद्धति रीतिबद्ध कवियों से पर्याप्त भिन्न रही है। इस भिन्नता का एक कारण अनुभूति प्रवणता है। तो दूसरा कारण यह है कि रीतिमुक्त कवि अपनी वेदना का निरूपण स्वयं किया करते थे, जबकि रीतिबद्ध कवि कल्पित व्यथा का चित्रण सखि, सखा या दूतियों के माध्यम से करते थे। रीतिमुक्त कवियों के विरह वर्णन में एक विशेषता यह मिलती है कि अनेक बार ये कवि अपनी व्यथा को मौन में छिपा लेते थे। यही कारण है कि इन्होंने अपने काव्य मे अनेक बार कुछ न कह कर भी बहुत कुछ कह दिया है। उदाहरणार्थ —

1. गहिये मुख मौन भई सो भई अपनी करी काहू सो का कहिये। (बोधा)

2 आवत है मुख लौं बढ़ि कै पुनि पीर रहे हिय ही में समाई कै।

3. मुँदते ही बनै कहते न बनै तन में यह पीर पिरैबो करै।

4. पहिचाने हरि कौन मो से अनपहचान कौं।

त्यौं पुकार मधि मौन, कृपा–कान मधि नैन ज्यो। (घनआनन्द)

बोधा विरह ताप से संतप्त है, लेकिन उनकी पीड़ा की न तो कोई सुनने वाला है और न कोई समझने वाला ही है। इसी कारण वे लिख गये हैं—

रितु पावस स्यामघटा उनई लखि के मन धीर धिराती नहीं।
पुनि दादुर मोर पपीहन की सुनि कै धुनि चित्त पिराती नहीं।
जब ते बिछुरे कवि बोधा हितू तब ते उर दाह थिराती नहीं।
हम कौन सों पीर कहैं अपनी दिलदार तो कोऊ दिखाती नहीं।

इन कवियों मे सर्वाधिक वेदना घनानन्द मे सिमटी हुई है। डॉ. रामधारी सिंह दिनकर के शब्दों में "विरह तो घनानन्द की पूँजी ठहरा....। रीतिकाल की बौद्धिक विरहानुभूति की निष्प्राणता और कुण्ठा के वातावरण मे घनानन्द की पीडा की टीस सहसा ही हृदय को चीर देती है। और मन सहज ही मान लेता है कि दूसरों के लिए किराए पर आँसू बहाने वालो के बीच एक ऐसा कवि भी है जो सचमुच अपनी पीड़ा से रो रहा है।"[14] घनानन्द के काव्य से यह उदाहरण लिया जा सकता है—

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों
क्यों फिर तेहि को तोरियै जू।
तिरधार अधार दै धार-मँझार
दई! गहि बाँहि न बोरियै जू।
घन-आनन्द आपने चातकि को।
गुन-बाँधिलै मोह न छोरियै जू।
रस प्याय के ज्याय बढ़ाय कै आस।
बिसास मे यों विष घोरियै जू।

केवल अपनी प्रेमिका सुजान के लिए ही नहीं, भगवान के लिए भी घनानन्द के हृदय से जो पुकार निकलती है, वह रीतिकाल के कवियों की भीड़ मे नहीं, प्रत्युत, कबीर, मीरां, रवीन्द्र और ब्लेक की कविताओं मे ही खप सकती है–

अन्तर हौं किधौं अन्त रहौं
 दृग फारि फिरौं कि अभागिनि भीरौं

आगि जरौं अकि पानि परौं,
 अब कैसी करौं हिय का विधि धीरौं।

जौं घनआनन्द ऐसी रूची,
 तौ कहा बस है, अहो, प्रानिन पीरौं।

पाऊं कहां हरि हाय तुम्हें,
 धरनी में धँसौं कि अकासहिं चीरौं।

"रीतिकाल में अगर घनानन्द को लेकर एक अलग परिवार की कल्पना की जाय तो उसके सबसे विश्वासी सदस्य बोधा होंगे तथा इस परिवार मे आलम, ठाकुर, रसखान और मुबारक को भी नजदीक की जगह मिल जायगी। बोधा घनानन्द के ही गुटका-संस्करण से लगते हैं, प्रेम का वही नशा, विरह की वही बेचैनी, भावुकता की वही लहर और निराशा में तड़पकर जान दे देने की वही चाह। बल्कि जान दे देने वाला मजमून घनानन्द में बहुत थोड़ा-सा है, लेकिन, बोधा इस मजमून के बहुत कायल हैं। बोधा का व्यक्तित्व भावुक प्रेमी का व्यक्तित्व है, जिसे प्रेम से निराशा हुई है, जिसके मन की आग मन मे ही जल रही है और जिसे कहीं भी वह आदमी नही मिलता जिसके सामने अपनी वेदना कहकर वह अपने जी को हलका करे।"[15]

इनकी अभिव्यक्ति अन्त.प्रेरित रही है इसी कारण भावुकता से असंपृक्त उक्तियों का विधान इनमे बहुत कम मिलता है। रीतिकारो की सी विरह संबन्धी उपहासास्पद उक्तिया इन कवियों मे अपवादस्वरूप ही मिलेंगी। स्वच्छन्द काव्य के विरहियों के गाव मे माघ महीने की रात्रि मे विरह तापजन्य ऐसी लुवें नही चलती, जिसमे सखियों को गीले कपड़े ओढ कर नायिका के पास जाना पड़ता हो। ये विरही ऐसी आहें नही भरते जिससे इनका विरह दुर्बल मात्र सास लेने और छोड़ने में छः-सात हाथ पीछे या आगे घटबढ़ जाय। इनका देह विरह मे ऐसी भट्टी नही बनने पाया है जिसके ऊपर गुलाब जल की भरी शीशी उलट दी जाने पर भी मात्र भाप के ही रूप मे दिखलाई देती है तथा जुगनुओ को देखकर इन विरहियों को अग्नि वर्षा का भ्रम नही होता। विरह ताप की ऐसी नाप जोख ये कवि नहीं कर सके क्योकि इनका विरह सच्चा था, निजी था, भुक्तभोगी का कथन था।"[16]

आभ्यांतरिक और हृदय प्रसूत होने के कारण इनके विरह में रीतिग्रन्थों में वर्णित विरहिणियों का सा शास्त्रीय विरह वर्णन नहीं है अर्थात् उसमें विरह के नाना भेदोपभेदों (अभिलाषा हेतुक, ईर्ष्या हेतुक, विरह हेतुक, प्रवास हेतुक, शाप हेतुक और मान हेतुक) तथा विभिन्न स्थितियों और कामदशाओं अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, गुण-कथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता, मृति—का बँधा बँधाया स्वरूप निदर्शन नहीं है। ये भेद और कामदशाएँ इनके काव्य में ढूँढ़ कर निकाली जा सकती हैं किन्तु शास्त्रोक्त योजनानुसार ये स्वच्छन्द कवि चले नहीं है, चल सकते नहीं थे। ऐसा हो भी कैसे सकता था जब ये अन्तर्व्यथा आवेग में रचना किया करते थे।

संयोग में वियोग की अनुभूति :

रीतिमुक्त काव्य में निरूपित वियोग इतना सघन और व्यापक है कि इसके कवि संयोग में भी वियोगानुभूति करते रहे हैं। इनकी वियोग व्यथा विरह में तो सताती ही रहती थी संयोग में भी पीछा न छोड़ती थी—

भोर तें साँझ लौं कानन ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ तें भोर लौ तारन ताकिबो तारनि सौं इकतार न टारति॥
जौं कहूँ भावतो दीठि परै घनआनन्द आँसुनि औसरि गारति।
मोहन सोहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति॥

वियोग तो वियोग ही था उसका खटका संयोग में भी लगा रहता था कि कहीं वियोग न हो जाय—

अनोखो हिलग दैया बिछुरयो पै मिल्यो चाहै,
मिलेहू पै मारै जारै खरक बिछोह की।

औरों के लिए भले ही अचरज की बात है, पर सच तो यह था कि इनका हृदय वियोग रहते-सहते विरह का इतना अभ्यस्त हो चला था कि संयोग की सुखद स्थिति में भी चैन नहीं मिलने पाता था—

कहा कहिये सजनी रजनी गति, चन्द कढ़ै कि जियै गहि काढ़ै।
अमीनिधि पै विषसार स्रवै, हिम जोति जगाय के अंगनि डाढ़ै॥
सु या पति संग न जानति है घनआनन्द जान वियोग की गाढ़ै।
वियोग मैं बौरिनि बाढ़ति जैसी, कछू न घटै, जु संयोग हू बाढ़ै॥
यह कैसो संयोग न जानि परै जु वियोग न क्यों हू बिछोहत है।

इनके विरह वर्णनों में आसक्ति की तीव्रता है इसी से इनका प्रणय इतना प्रगाढ़ है। एक ओर तो वासना का तिरस्कार, दूसरी ओर रीझ या आसक्ति का आतिशय्य। इसी रीझ के हाथ ये बिके हुए हैं—'दौरी फिरै न रहै घनआनन्द

बावरी रीझ के हाथनि हारिये।' आसक्ति जितनी तीव्र होगी अप्राप्ति में प्रिय-प्राप्ति की लालसा उतनी ही बलवती।

इन कवियों ने मात्र नारी के विरह का ही चित्रण नहीं किया है, पुरुष के विरह का भी वर्णन किया है जैसे रीतिबद्ध काव्य में कम मिलता है, सम्भव है यह सूफी प्रभाव हो। बोधा ने माधवानल का मकंदला में माधव का विरह स्थान-स्थान पर विस्तारपूर्वक दिखलाया है। यही बात आलम के भी आख्यान है और गोपी-घनश्याम के व्याज से वर्णित सात गोपी-विरह मूलतः तो घनआनन्द की स्वीय प्रीति-व्यथा की अभिव्यक्ति है। इसका कारण एक बड़ी हद तक स्वानभूति का प्रकाशन भी है। दूसरी बात यह है कि प्रबन्ध की धारा में कथा की आवश्यकता के अनुसार जगह-जगह भिन्न-भिन्न स्थितियो में विरह का जो वर्णन किया गया है विशेषतः अपने आख्यानों में बोधा और आलम के द्वारा उसका स्वरूप भी पर्याप्त गम्भीर है। "मैं समझता हूँ कथाकाव्यो में परिस्थिति के संघात से विरह की वर्णना विशेष चमत्कार-पूर्ण और प्रभावोत्पादक हो जाती है। विरह चित्रण की यह गम्भीरता और सुन्दरता बोधा के काव्य में सर्वोत्कृष्ट रूप में सुलभ है। मुक्तकों में भाव की वह गम्भीरता इतनी सरलता से नहीं लाई जा सकती जो पूर्वा-पर सम्बन्धों से युक्त प्रबन्ध काव्यों में सहज विन्यस्त हो सकती है। तीसरी उल्लेख्य बात यह है कि जगह-जगह पर विरह का चित्रण करते हुए इन कवियों ने उस विरहोन्मद का भी चित्रण किया है, जो हमें परम्परा से प्राप्त रहा है, जिसमे पड़कर ये विरही जड़-चेतन का भेद भूल जाते है तथा कभी वृक्षों से, कभी लताओं से, कभी पक्षियो से अपने प्रिय का समाचार पूछते हैं और कभी वायु से अथवा मेघ से अपनी व्यथा का निवेदन करते हैं और उसे प्रिय तक पहुँचाने का आग्रह भी। चौथी बात यह है कि ये कवि भी आवश्यकतानुसार ऋतुओं और प्रकृति की परिवर्तनशीलता मे विरह के उत्तेजित स्वरूप का चित्रण परम्परानुमोदित रूपों में कर गये हैं। नियमित रूप से रीतिकारों की भांति तो षड्ऋतु वर्णन किसी ने नही किया है पर वर्षा और वसन्त ऐसी ऋतुओं में विरह की स्थिति का चित्रण अवश्य हुआ है। बारहमासा तो बोधा ने ही लिखा है।[17]

भक्ति और नीति का समावेश :—

रीतिमुक्त काव्यधारा में भले ही शृंगार की प्रधानता रही हो, प्रेमानुभूति की उदात्तता हो और विरहाधिक्य प्रबल रहा हो, तो भी उसमें भक्ति और नीति के स्थल प्रचुर मात्रा में मिलते। बोधा, द्विजदेव और घनानन्द की रचनाओं में एक सच्चे भक्त हृदय की वाणी सुनी जा सकती है। घनानन्द के काव्य से यह उदाहरण लीजिए, जिसमें भक्त हृदय की निश्छल प्रार्थना का निरूपण हुआ है —

मूल मरे की सुरति करो।
अपनी गुन निधानता उर धरि मो अनेक औगुन बिसरी।
या असोच कौं सोच कीजिये हा हा हो हरि सुढ़र ढ़रो।
कृपानन्द आनंद कंद हो पतित पपीहा-तपति हरो।

कभी भक्त दास्यभाव से भक्ति करता हुआ 'श्रीराधा ब्रजनंद' की रूप-माधुरी का पान करता है और कभी 'सख्यभाव' से अनुप्राणित होकर ईश्वर को उपालम्भ भी देता है—

मेवा बई घनी काबुल में बिन्दरावन आनि करील जमाए।
राधिका सी सुभ बाम बिहाय, कै कूबरी संग सनेह बढ़ाए।
मेवा तजी दुरजोधन के विदुराइन के घर छोकल खाए।
'ठाकुर' ठाकुर की का कहौं सदा ठाकुर बावरे होतई आए।

इन कवियों ने जगत की दशा-निरूपण, मन को प्रबोधन, उपदेश तथा वैराग्यभावना-निरूपण के व्याज से प्रचुर नीतिकाव्य का सृजन किया है। यहाँ आलम की कुछ पंक्तियाँ देखने योग्य हैं—

हंसे खेले खाय न्हाय बोले डोले आवै जाय,
मम ह्रीकी रुचि नीके तन ही हिताति है।
घरी है गनतु घरियार ज्यों-ज्यों बाजत है,
जानतु है नही कि बजाये आपु जाति है॥

रहस्यवादिता का अभाव

रीतिमुक्त काव्यधारा के कवियों के काव्य के सम्बन्ध में यह निर्विवाद कहा जा सकता है कि उनका काव्य रहस्यमूलक नही है। हाँ, प्रेम में असफलता प्राप्त होने पर यह वृत्ति ईश्वरोन्मुख अवश्य हो गयी है। सूफियों का काव्य रहस्यवादी था और उनका प्रभाव इन कवियो पर भी पड़ा, किन्तु फिर भी ये रहस्यवादी नही बन पाये। घनानन्द आदि के काव्य में यदि अपवादस्वरूप कुछ ऐसे काव्यांश मिल जाएं, जिनमें रहस्यात्मकता की झलक हो, तो भी मूलतः उसे रहस्यवादी नहीं माना जा सकता। वैसे भी भारतीय शक्ति रहस्यात्मकता से दूर ही रही है। इस विषय में यही कहा जा सकता है कि भारतीय भक्ति मे यों भी रहस्यात्मकता का समावेश कभी नही रहा।[18] रहस्य की जो झलक यत्र-तत्र प्राप्त है, उसे पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने फारसी साहित्य और सूफी साधना के प्रवाह से सम्बद्ध रूप में देखा है।[19] यह झलक घनआनन्द, रसखान और बोधा तथा आलम में तो मिल सकती है क्योंकि इन पर थोड़ा बहुत सूफी प्रभाव था। फिर भी यह झलक है बहुत ही कम। ठाकुर और द्विजदेव में तो रहस्य की झलक बिल्कुल ही न मिलेगी क्योंकि ये कवि शुद्ध भारतीय प्रेम पद्धति को लेकर चले हैं। इनकी प्रेम भावना बिल्कुल भारतीय ढंग की है।

सौन्दर्यानुभूति :

रीतिमुक्त काव्य में सौन्दर्य वर्णन प्रचुर मात्रा में हुआ है। इस धारा में जो सौन्दर्यानुभूति देखने को मिलती है, वह रीतिबद्ध काव्य से सर्वथा अलग-थलग है। रीतिबद्ध कवियों ने सौन्दर्य के जितने भी चित्र प्रस्तुत किये हैं, उनमें सौन्दर्य का स्थूल पक्ष ही अधिक निखरा है। रीतिमुक्त काव्य में सौन्दर्य का अकलुष, स्वच्छन्द और सूक्ष्म सौन्दर्य पर्याप्त मात्रा में देखने को मिलता है। घनानन्द के विषय में तो प्रसिद्ध ही है कि उनके काव्य को वही समझ सकता है जो प्रेमी हो, व्रजभाषा प्रवीण हो और सौन्दर्य के भेदोपभेदों से सर्वथा परिचित हो। "लाजन लपेटी चितवन भेद भाय भरि" आदि पंक्तियों में सौन्दर्यानुभूति का मार्मिक रूप देखा जा सकता है। हमारा तात्पर्य यही है कि रीतिमुक्त काव्य सौन्दर्य निरूपण में स्थूल कम, सूक्ष्म अधिक है। इसमे निरूपित सौन्दर्य कालिदास के काव्य में वर्णित उस सौन्दर्य के समान है जिसके लिए अनाघ्रात शब्द का प्रयोग किया गया है। अपवादस्वरूप कहीं-कहीं यदि ऐसी उक्तियां मिल जाय, तो सौन्दर्य को वासना से जोड़ दें तो उनके आधार पर उनकी सौन्दर्यानुभूति के विषय मे निष्कर्ष निकालना अनुचित है।

व्रजभाषा का प्रयोग :

समूचे रीतिकाल में व्रजभाषा का प्रयोग हुआ है। रीतिमुक्त काव्य भी उसका अपवाद नहीं है। यह व्रजभाषा प्रेमानुभूति, सौन्दर्यनुभूति और वियोगानुभूति के निरूपण में सर्वाधिक सफल रही है। इससे यही कहा जा सकता है कि व्रज भाषा का अच्छा परिष्कृत और प्रभावी रूप रीतिमुक्त काव्य के अन्तर्गत ही देखने को मिलता है। व्रज भाषा के प्रयोग में इन कवियों ने भाषा की शक्ति को विकसित करने का प्रयास किया है। उल्लेखनीय बात यही है कि भाषा के प्रति इन कवियो की दृष्टि संकुचित नहीं थी। यही कारण है कि इनकी भाषा मे व्रज भाषा के प्रयोग के साथ-साथ संस्कृत, अरबी, फारसी, बुन्देली, पंजाबी, राजस्थानी, भोजपुरी व अवधी के शब्द भी मिलते है। देशज शब्दों का प्रयोग करके इन्होने अपनी भाषा को अधिकाधिक सर्वजन सुलभ बनाने का प्रयास किया है।

लाक्षणिक सौन्दर्य :

सभी रीतिमुक्त, श्रृंगारी कवियों ने व्रजभाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। इन्होने व्रजभाषा की शुद्धता और सामर्थ्य दोनों को ही चरमोत्कर्ष पर पहुँचा दिया। "वाणी के विस्तार की सीमा वस्तुतः ये ही जानते थे। भावों का कोश वाणी के प्रतीकों द्वारा उद्घाटित करने की शक्ति इन्हीं में थी। हृदंगत अनुभूतियों को ठीक-ठीक व्यक्त करने के लिए भाषा की गति निरन्तर बाधित होती रहती है। इन कवियों ने लाक्षणिक और व्यग्यमूलक पद्धति पर अधिकाधिक चल कर यह बाधा दूर कर दी है।[20] 'इनकी प्रत्येक पंक्ति में विशिष्ट

अर्थ-गाम्भीर्य मिलता है, जिसका अधिकांश श्रेय लक्षणा शब्दशक्ति के प्रयोग को है। लक्षणा शब्द-शक्ति के अर्थ-विस्तार में लोकोक्तियों व मुहावरों के प्रयोग का अपना निजी योगदान होता है। ठाकुर और बोधा ने लोकोक्तियों के समर्थ प्रयोग से भाषा में जान डाल दी है—ऐसे प्रयोग रूढ़ा लक्षणा के अन्तर्गत आते हैं—

"अपने अटके गुन ऐरी भटू निज सौत के माइके जइयत है" (ठाकुर)

"जो विष खाय सो प्राण तजै, गुड़ खाय तो काहे न कान छिदावै।"

(ठाकुर)

"हाय दई ! न विलासी सुनै कछु, है जग बाजति नेह की डौंडी।"

(घनानन्द)

गौणी लक्षणा, शुद्धा-लक्षणा आदि के भी अगणित उदाहरण उपलब्ध होते हैं—

1. लोचन लाल गुलाब भरे कि खरे अनुराग सो पागि जगाए।

(शुद्धा लक्षणा-लक्षणा)—घनानन्द

2. मन भृंग अहे अहरात कहा बसु रे वसु गोरी के पायन में।

(गौणी सारोपा लक्षणा)—बोधा

इन कवियों की लाक्षणिकता सम्पन्न ब्रजभाषा "वाग्योग, उक्तिवैचित्र्य तथा अर्थ-गौरव सम्पन्न है। ब्रजभाषा के इतिहास में इनका नाम विशेष सम्मान से लिया जायेगा।[21]

आलंकारिकता :

समूचा रीतिकाल अलंकार के लिए प्रसिद्ध रहा है। प्रायः सभी कवियों ने अलंकारों का आकर्षक प्रयोग किया है। हाँ, इतना अवश्य है कि रीतिमुक्त कवियों के अलंकरण और रीतिबद्ध कवियों के अलंकार प्रयोगों में पर्याप्त अन्तर है। रीतिबद्ध कवियों ने पारम्परिक उपमानों का अधिक प्रयोग करके काव्य के प्रवाह में कहीं-कहीं नीरसता भी डाली थी। अलंकार बहुलता के कारण भी रीतिबद्ध काव्य सहज सौन्दर्य से दूर चला गया था, किन्तु रीतिमुक्त काव्य की स्थिति ऐसी नहीं रही है। इन्होंने नये परिवेश में पुराने उपमानों का प्रयोग भी किया है और ये कवि अलंकारों के मोह-जाल में नहीं पड़े हैं। हाँ, कहीं-कहीं आलम के काव्य में शब्दालंकारों के प्रति मोह दिखलाई देता है। सादृश्यमूलक एवं विरोधमूलक अलंकारों के स्वाभाविक प्रयोग से इस काव्यधारा की भाव-व्यंजना उत्कर्ष पर पहुँची हुई है। बोधा और घनआनन्द की रचनाओं में अलकारों को खोजना पड़ता है। कारण यह है कि अलकरण में उन कवियों की विशेष रुचि नहीं रही है। कथन की वक्रता के कारण घनानन्द के काव्य में विरोधाभास का विशेष सौन्दर्य दिखलाई देता है। कहीं-कहीं तो मानवीकरण के भी आकर्षक प्रयोग मिलते हैं। विरोधाभास के अच्छे प्रयोगों की दृष्टि से अधोंकित पंक्तियाँ देखी जा सकती हैं :—

1—पौन सों जागति आगि सुनी ही पै पानी सों लागति आंखिन देखी।
2—मति दौरि थकी न लहै ठिक ठौर अमोही के मोह-मिठास ठगी।

छन्द के क्षेत्र में रीतिमुक्त कवियों ने कोई नया माध्यम स्वीकार किया। युग के सर्वप्रिय छन्दों, कवित्त-सवैया में ही इन्होंने अपनी वाणी का विलास निदर्शित किया है, पर छन्दगत वैशिष्ट्य का विधान शास्त्रबद्ध दृष्टि द्वारा ही सम्भव है। शास्त्रमुक्त दृष्टि लेकर चलने वाले ये कवि भला ऐसी दशा में क्यों कर जाते। घनआनन्द ने अनेक अतिरिक्त छन्दों का भी प्रयोग किया है तथा भारी संख्या में पदों की रचना भी की है। बोधा के छन्दों की प्रचुरता है क्योंकि वे प्रमुख रूप से प्रबन्ध रचना में लीन हुए। उर्दू के छन्द और रेखते आदि भी इन कवियों ने प्रयुक्त किए हैं। अभिव्यंजना या वर्णन शैली के क्षेत्र में कोरी अतिशयोक्तियों से ये दूर रहे हैं। अतिशयोक्तियाँ इन्होने की हैं पर भाव से सम्पृक्त।[22]

अन्ततः कहा जा सकता है कि भाषा के क्षेत्र में वर्ण-संघटन, शब्द मैत्री, उक्ति वैचित्र्य एवं रोचक उपमानों के साथ शरीर के अंग-प्रत्यंगों की रूप माधुरी के वर्णन आदि को इस कविता की मुख्य उपलब्धि स्वीकार किया जा सकता है। निश्चय ही भाषा को इन्होंने नए तेवर प्रदान किए। नई भंगिमा दी। सुकुमार भावों एवं ललित सूक्ष्मातिसूक्ष्म चेष्टाओं की अभिव्यंजना भी इस कविता में उपलब्ध होती है। छन्द एवं लय की दृष्टि से भी यह काव्य अप्रतिम ठहरता है। इस काव्य की सीमायें भी स्पष्ट ही हैं। किशोरावस्था एवं यौवन के अतिरिक्त जीवन के कुछ अन्य पक्ष भी हैं, उन पर इन कवियों का ध्यान ही नहीं गया। जीवन की विविधताओं को इन्होने स्पर्श ही नही किया। जीवन की वास्तविक जटिलताओं एवं संघर्षों से ये मुख मोड़े रहे। यह ठीक है कि यौवन जीवन में कुछ ही दिन के लिए आता है, किन्तु उसका आकर्षण, महत्व एवं प्रभाव सर्वोपरि होता है। प्रेम मोहन है, किन्तु मोहन-भोग की भी अतिशयता ऊब एवं एकरसता पैदा कर सकती है, इसका अनुभव ये कवि नही कर पाए।

सन्दर्भ-संकेत

1. आचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 226
2. —वही— —वही—पृ. 234
3. डॉ. मानसिंह वर्मा : अभिनव हिन्दी निबन्ध, पृ. 246
4. डॉ. त्रिभुवन सिंह : हिन्दी साहित्य एक परिचय, पृ. 140–141
5. डॉ. कृष्णदेव वर्मा : घनानन्द, पृ. 19–20
6. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घनानन्द ग्रन्थावली, पृ. 13–14
7. डॉ. कृष्णदेव वर्मा—घनानन्द, पृ. 27
8. रीति स्वच्छन्द काव्यधारा, पृ. 58
9. डॉ. कृष्णदेव वर्मा : घनानन्द, पृ. 33–34

10. डॉ. कृष्णदेव वर्मा : घनानन्द, पृ. 36
11. डॉ. मनोहर लाल : घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा, पृ. 346–347
12. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घनानन्द ग्रन्थावली, पृ. 36–37
13. डॉ. कृष्णदेव वर्मा : घनानन्द, पृ. 39
14. रामधारी सिंह दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ. 19
15. —वही— —वही— पृ. 20
16. डॉ. कृष्णदेव वर्मा : घनानन्द, पृ. 46–47
17. —वही— —वही— पृ. 50
18. आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : घनानन्द ग्रन्थावली : वाङ्मुख, पृ. 41
19. —वही— : घनानन्द और स्वच्छन्द काव्यधारा परिचय, पृ. 6
20. —वही— : घनानन्द कवित्त प्रस्तावना, पृ. 5
21. डॉ. वेदप्रकाश अमिताभ : साहित्यिक निबन्ध, पृ. 117.

6. रीतिकाल के प्रमुख कवियों का परिचय

रीतिकालीन काव्य हिन्दी साहित्य की अनमोल धरोहर है। विषय वैविध्य की दृष्टि से रीतिकाल आदिकाल से कुछ ही कम है। इस युग के काव्य में शृंगार रस की प्रधानता अवश्य है, किन्तु साथ ही भक्ति, नीति और वीर रसात्मक भावनाओं को भी प्रश्रय दिया गया है। ये समस्त भावनायें रीतिकालीन काव्य में कुछ इस प्रकार से एकमेक हो गयी हैं कि वे पाठक को एकरसता का आभास तक नहीं होने देतीं। ठीक वैसे ही जैसे बारिश में हर दिन इन्द्रधनुष को देखते हुये भी हम उसके सौन्दर्य से विरक्त नहीं हो पाते क्योंकि हर बार हमारी दृष्टि उसके किसी एक मोहक रंग में अटक कर रह जाती है। शृंगार रस के जितने विविध रूपों का चित्रण रीतिकाव्य में मिलता है उतना अन्य किसी काल के साहित्य मे कहाँ? रीतिकालीन कवियों का मन शृंगार-वर्णन में ही अधिक रमा है। तभी तो डॉ. नगेन्द्र ने लिखा है—"साँचा चाहे जैसा भी रहा हो, उसमें ढली शृंगारिकता है।' संभवत इसीलिये अन्य भावनाओं का वर्णन करते समय भी रीतिकालीन कवि शृगार-वर्णन को पूरी तरह से भूल नहीं पाये हैं। रीतिकाल के इन विविध रगों मे एक रंग काव्य शास्त्र का भी है, जिसके अन्तर्गत रस अलंकार रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति तथा औचित्य सिद्धान्त विषयक ऐसे ग्रन्थो की रचना की गयी जो काव्यांगों का सरल ज्ञान पाठकों तक पहुँचा सकें। स्पष्ट है कि रीतिकालीन काव्य की साहित्यिक पृष्ठभूमि जितनी सुदृढ़ है, उतनी ही सुदृढ़ उसकी काव्यशास्त्रीय पृष्ठभूमि भी है।

रीतिकाव्य में कलात्मक सौन्दर्य भी अपने चरमोत्कर्ष पर दिखाई देता है। यही कारण है कि कुछ विद्वानो ने इसे 'कलाकाल' नाम से भी अभिहित किया। कहीं-कहीं तो यह कलात्मकता इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उसके झुटपुटे में संवेदनात्मकता कही खो गयी-सी प्रतीत होती है। रीतिकालीन कवियों ने काव्य के मुक्तक रूप को अपनाया ताकि यह बहुरंगी अभिव्यक्ति सहज बनी रह सके। उल्लेखनीय है कि विद्वानों ने रीतिकालीन काव्य को तीन वर्गों में विभाजित किया है– रीतिबद्ध काव्य, जिसमें काव्यशास्त्रीय ग्रंथ आते हैं, रीतिसिद्ध काव्य, जिसमे काव्यशास्त्रीय लक्षणों को ध्यान में रखकर लिखे गये ग्रन्थ आते हैं, तथा रीतिमुक्त, जिसमें समस्त काव्यशास्त्रीय बन्धनों से मुक्त होकर लिखे गये काव्य आते हैं। इसी वर्गीकरण के आधार पर रीतिकाल के प्रमुख कवियों का परिचय इस क्रम मे प्रस्तुत किया जा सकता है—

चिन्तामणि :

चिन्तामणि का जन्म 1600 ई. के लगभग उत्तर प्रदेश के जिला फतेहपुर के कोंडा जहाँनाबाद में हुआ। कालान्तर में ये राजा हम्मीर के निमन्त्रण पर भूषण और मतिराम के साथ तिकवांपुर में आकर स्थायी रूप से रहने लगे। ऐसा माना जाता है कि ये शाहजी भोसला, शाहजहाँ और दाराशिकोह के आश्रय में भी कुछ समय तक रहे। इनका नाम रीतिकालीन आचार्य-कवियों में अग्रगण्य है। ये रीतिबद्ध कवि माने गये हैं तथा आचार्य शुक्ल जैसे विद्वानों ने इन्हें रीतिकाल का प्रवर्तक भी माना है। लोकश्रुतियों के आधार पर प्रारम्भ में इन्हें तिकवांपुर वासी रत्नाकर त्रिपाठी का पुत्र माना जाता था। अनेक जनश्रुतियों ने इन्हें मतिराम, भूषण तथा जटाशंकर जैसे कवियों का भ्राता भी घोषित किया। किन्तु आज नवीनतम शोधों के आधार पर यह धारणा भ्रामक सिद्ध हो चुकी है।[1]

चिन्तामणि ने लगभग नौ ग्रन्थो की रचना की जिनमें से आज केवल पाँच ग्रंथ ही उपलब्ध हैं। इनकी रचनायें हैं—'रसविलास', छन्दविचार पिंगल, शृंगार-मंजरी, कविकुल कल्पतरु, कृष्णचरित, काव्यविवेक, काव्यप्रकाश, कवित्तविचार तथा रामायण। इनमें से आज केवल रस-विलास, छन्दविचार पिंगल, शृंगारमंजरी, कविकुल कल्पतरु तथा कृष्णचरित ही उपलब्ध हैं। 'रसविलास' रस विवेचन विषयक ग्रंथ है जिसमें भानुदत्त की 'रसमंजरी', 'रसतरंगिणी' के साथ-साथ धनंजय के 'दशरूपक' एवं विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' का सहारा लिया गया है। इनका 'शृंगारमंजरी' ग्रन्थ आन्ध्रप्रदेश के सन्त अकबरशाह की रचना के संस्कृत अनुवाद का ब्रजभाषा में अनुवाद है। इसमें नायक-नायिका भेद प्रस्तुत किया गया है। 'कविकुल कल्पतरु' इनकी प्रमुख रचना तो है ही, साथ ही इनकी कीर्ति का भी मुख्य आधार है। इसमें काव्य के दसों अंगो का विवेचन प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की रचना करते समय मम्मट के 'काव्य प्रकाश', विश्वनाथ के 'प्रतापरुद्रयशोभूषण', धनंजय के 'दशरूपक', अकबरशाह की 'शृंगारमंजरी', भानुदत्त की 'रसमंजरी' और 'रसतरंगिणी' को आधार बनाया गया है। इस ग्रंथ का लक्षण भाग दोहा सोरठा छन्दो में लिखा गया है तो उदाहरण भाग लेखन में कवित्त-सवैया छन्दों का प्रयोग किया गया है। कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है। छन्द विचार पिंगल के अन्तर्गत 'प्राकृत पैंगलम्' और भट्टकेदार के 'वृत्तरत्नाकर' के आधार पर छन्दशास्त्र का वर्णन किया गया है।

चिन्तामणि का आचार्यत्व और कवित्व की दृष्टि रीतिकालीन साहित्य में विशिष्ट स्थान है। इन्होंने काव्यशास्त्र विषयक ग्रन्थों की रचना करते समय अनेक पूर्ववर्ती ग्रन्थों को आधार अवश्य बनाया है किन्तु उनका अंधानुकरण नहीं किया है, जो कुछ उन्हें ठीक प्रतीत हुआ, उसे उन्होंने ने स्वीकार किया है और जो ठीक

नहीं लगा, उसमें उन्होंने अपने मतानुसार परिवर्तन भी किया है। अतः इनके ग्रन्थः मे मौलिकता भी है। एक कवि के रूप में ये रसवादी माने जाते हैं, यही कारण है कि इनके काव्य में शृंगार, वीर, वात्सल्य तथा भक्ति भावनाओं का अनूठा संगम देखने को मिलता है। इनके काव्य में न कल्पना की ऊँची उड़ान है और न ही भावनाओं का तीव्र आवेग, वह तो जैसे मन के किन्ही गहन स्तरों से निकली सच्ची अनुभूतियों की सहज अभिव्यक्ति है, जिसमे सरल शब्दों का ही प्रयोग किया गया हैं। इनके काव्य मे ब्रजभाषा का निश्छल एवं स्वच्छ प्रयोग मिलता है। भाषा का नियमानुकूल प्रयोग इनके काव्य की विशेषता है, जिसमें लालित्य और अनुप्रास-योजना के मिश्रण से और अधिक माधुर्य आ गया है। इन्होंने अलंकारों का जबरन प्रयोग नही किया है बल्कि उन्हें रसोत्कर्ष में ही इस्तेमाल किया है। इनकी छन्द योजना भी आकर्षक है। कवित्त व सवैया इनके प्रिय छन्द प्रतीत होते है। इनका काव्य स्वर और लय की संगति से रहित होने पर भी अपरिष्कृत प्रतीत नही होता। एक उदाहरण दृष्टव्य है—

> "ओढ़े नील सारी घन-घटा कारी चिंतामनि,
> कचुकी किनारी चारु चपला सुहाई हैं।
> इन्द्रबधू-जुगुनू जवाहिर की जगी जोति,
> बग-मुकतान माल कैसी छवि छाई हैं।
> लाल-पीत सेत वर बादर वसन तन,
> बोलत सु भृंगी धुनि-नूपुर बजाई है।
> देखिबे को मोहन नवल नट-नागर को,
> बरखा नवेली अलबेली बनि आई है ॥"

माना जाता है कि चिन्तामणि की मृत्यु 1680-85 ई. के मध्य हुई।

केशवदास :

केशव का जन्म 1612 संवत् मे टेहरी वासी एक सनाढ्य ब्राह्मण परिवार मे हुआ। इनके पिता पं. काशीनाथ स्वयं साहित्यिक अभिरुचि सम्पन्न व्यक्ति थे। इनके परिवार के सभी जन संस्कृत भाषा के ज्ञाता थे। इनको इस बात का पर्याप्त खेद था कि कुल की परम्परा के विरुद्ध इन्होंने हिन्दी मे कविता लिखी।[2] यहाँ तक कि स्वयं इनके भाई अपने समय के एक श्रेष्ठ कवि थे। ऐसे पारिवारिक वातावरण में केशव का आचार्य कवि केशव के रूप मे ख्याति प्राप्त कर लेना कोई असामान्य घटना नही थी।

केशव ओरछा नरेश के दरबारी, कवि, गुरु एवं मंत्री रहे। इन्होंने महाराजा रामसिंह और वीरसिंह के अनुज इन्द्रजीतसिंह के दरबार की शोभा बढ़ाई। कुछ विद्वान केशव को ही रीतिकाल के प्रवर्तक के रूप मे स्वीकार करते हैं। इन्होंने

'कविप्रिया', 'रसिकप्रिया', 'रामचंद्रिका' तथा 'नखशिख' आदि ग्रन्थों की रचना की। 'कविप्रिया' में काव्य के विविध अंगों का विधिपूर्वक विवेचन किया गया है जबकि 'रसिकप्रिया' में शृंगार रस का विस्तृत निरूपण किया गया है। 'रामचन्द्रिका' में उन्होंने श्री राम के चरित्र का वर्णन किया तो 'नखशिख' में नायिका का नख-शिख वर्णन प्रस्तुत किया। कहा जाता है कि एक बार स्वप्न में महर्षि वाल्मीकि ने उन्हें 'रामचंद्रिका' लिखने की प्रेरणा दी थी और कहा था—

'भलो बुरो न तू गुनें,
वृथा कथा कहैं सुनें।
न राम देव गाइ है,
न देव लोक पाइ है।।'

'रामचन्द्रिका' ही केशव की अक्षय कीर्ति का आधार है। यह एक प्रबन्ध काव्य है, जिसकी रचना 1601 ई. में की गयी थी। विषय वस्तु के आधार पर इस कृति को भक्तिकालीन रचना माना गया है किन्तु छन्द-बाहुल्य तथा अलंकारिकता के कारण इसे रीतिकालीन रचना माना गया है। इसमें 39 प्रकाश हैं। इसकी रोचक संवाद-योजना इसे विशिष्टता प्रदान करती है। इस कृति में प्रमुखतः श्लेष आदि शब्दालंकारों का प्रयोग किया है। इसमें छन्द-वैविध्य भी अत्यधिक मात्रा में मिलता है। 'इस प्रबन्ध काव्य में छन्द-परिवर्तन इतना अधिक हुआ है कि प्रवाह और प्रबन्धात्मकता एकदम नष्ट हो गई है और ऐसा लगता कि वे छन्दों की प्रदर्शनी हमारे समक्ष लगा रहे हैं। प्रतिपग नूतन छन्दावली में घटनाएं भी अत्यधिक अस्त-व्यस्त हैं।[3]

कथोपकथनों के प्रयोग के कारण इस प्रबन्ध काव्य में एक अद्भुत नाटकीयता आ गयी है। प्रस्तुत काव्य में आकर्षक सूक्ति प्रयोग तथा नवीन एवं सजीव उपमाओं का प्रयोग भी दृष्टिगोचर होता है। कहीं-कहीं क्लिष्ट कल्पनाओं के प्रयोग के कारण राम की स्निग्ध छटा में व्यवधान उत्पन्न होता है। एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि यहाँ कहीं भी केशव आचार्यत्व का प्रदर्शन करने से नहीं चूके हैं। उदाहरण के लिये श्री रामचन्द्र की सेना का यह वर्णन देखिये—

'कुंतल ललित नील, भृकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्यदेश केसरी सु गज गति भाई है।।
विग्रहानुकूल सब लच्छ-लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसोदास गाई है।

रामचन्द्र जू की चमू, राज्यश्री विभीषण की,
रावण की मीचु दर कूच चली आई है ।।'

यहाँ श्लेष के माध्यम से श्रीराम की सेना, विभीषण, राज्यश्री तथा रावण की मृत्यु का वर्णन किया गया है । आचार्यत्व-प्रदर्शन के चक्कर में यहाँ केशव राम की सेना के सम्पूर्ण ओज को अभिव्यक्त नहीं कर पाये हैं । कुछ स्थल तो यहाँ पर्याप्त मार्मिक, उत्कृष्ट एवं सजीव बन पड़े हैं, जैसे—

'घन घोर घने दशहू दिशि छाए ।
मघवा जनु सूरज पै चढ़ि आए ।।
अपराध बिना क्षिति के तन ताए ।
तिन पीड़ित पीड़ित ह्वै उठि धाए ।

सीताजी की स्थिति कितनी करुण बन पड़ी है—

धरे एक बेनी मिली मैल सारी ।
मृणाली मनो पंक सों काढ़ि डारी ।'

आचार्य केशवदास ने 'वीरसिंह देव चरित' नामक अपनी रचना मे वीरसिंह बुंदेला का यशगान किया है। इसी प्रकार 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' नामक कृति में जहाँगीर की प्रशंसा की गई है । 'रतन बावनी' एक वीररसात्मक काव्य है और 'विज्ञान गीता' एक अत्यन्त साधारण कृति है। रोचक संवाद इनके काल की अनुपम विशेपता है। चित्रोपम वर्णन इनके काव्य में अनोखी छटा बिखेरते हैं। इन्होंने अपने काव्य मे शृंगार के पूर्वराग, संयोग और वियोग तीनों ही अवस्थाओं का सुन्दर वर्णन किया है । इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नही किया । किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिये कल्पना के उचित प्रयोग द्वारा जिस भव्य चित्र-योजना की अपेक्षा होती है उसकी वह प्रायः उपेक्षित ही कर गया है । इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नही रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाठबाट के वर्णनों मे उसका काव्य अत्यन्त बिखरा हुआ प्रतीत होता है। अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल कहा जाएगा । उसमे न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है । वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिये जिन उपमानों की अपेक्षा होती है उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है । इसके अतिरिक्त छन्दों में भी कही-कही अनगढ़पन हैं। न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंड़ापन आ गया है। भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है—अधिकांश विदग्ध उक्तियाँ

संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपान्तरमात्र है। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कला-शिल्प की दृष्टि से मूल्यवान बना सकते, इसमें सन्देह है।

बिहारी :

बिहारी रीतिकाल के प्रमुख कवि हैं। इनका जन्म 1595 ई. में ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम केशवराय था जो चौबे ब्राह्मण थे तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य थे। इनका बचपन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ तथा वहाँ से ये अपने यौवन काल में वृन्दावन आये।[5] यहीं पर इनका मथुरावासी ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। ये अपने पिता के संरक्षण में पहले ही प्राकृत-संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके थे। अतः वृन्दावन में इन्होंने फारसी काव्य का गहन अध्ययन कर उसमें दक्षता प्राप्त की। कुछ ही समय बाद जब मुगल सम्राट शाहजहाँ वृन्दावन आये, तब इन्होंने उन्हें कविता-पाठ से प्रसन्न किया। बादशाह इनके काव्य कौशल पर मुग्ध होकर इन्हें अपने साथ आगरा ले गये। अपने आगरा-निवास के दौरान इन्हें शहजादे के जन्मोत्सव के जलसे में अनेक आगन्तुक राजा-महाराजाओं के बीच काव्य-पाठ करने का अवसर मिला। इसी समय इनकी मुलाकात महाराजा जयसिंह से हुई। उन्होंने इनकी योग्यता से प्रभावित होकर इनकी वार्षिक वृत्ति निश्चित की। एक बार ये अपनी वार्षिक वृत्ति लेने आमेर गये तो इन्होंने राजा जयसिंह को अपनी नवोढ़ा रानी के प्रेमपाश में बँधा पाया। उन्हें पुनः अपने कर्तव्यों की ओर प्रवृत्त करने के लिये इन्होंने मालिन के हाथ एक दोहा लिख कर महाराज के पास भिजवाया, जिसने राजा-रानी का हृदय जीत लिया। तत्पश्चात ये आमेर में ही स्थायी निवास करने लगे—

> 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं बिकास इहि काल।
> अली कली ही सों बिध्यों, आगे कौन हवाल।।'

इस दोहे की रचना करने पर इन्हें काली पहाड़ी ग्राम भी पुरस्कारस्वरूप मिला और साथ ही राजा ने इन्हें वचन दिया कि वे उन्हें प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा देंगे। अपने जयपुर प्रवास के दौरान ही इन्होंने 712 दोहों का 'बिहारी सतसई' नामक एक ग्रंथ लिखा। ऐसा माना जाता है कि यह ग्रंथ 1662 ई. में पूर्ण हुआ। विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि इनकी मृत्यु 1663 ई. में हुई।

बिहारी सतसई ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' व 'अमरुक शतक' आदि ग्रंथों की प्रेरणा से लिखा गया। मुक्तक-काव्य परम्परा में 'बिहारी सतसई'

रामचन्द्र जू की चमू, राज्यश्री विभीषण की,
रावण की मीचु दर कूच चली आई है ।।'

यहाँ श्लेष के माध्यम से श्रीराम की सेना, विभीषण, राज्यश्री तथा रावण की मृत्यु का वर्णन किया गया है । आचार्यत्व-प्रदर्शन के चक्कर में यहाँ केशव राम की सेना के सम्पूर्ण ओज को अभिव्यक्त नहीं कर पाये हैं । कुछ स्थल तो यहाँ पर्याप्त मार्मिक, उत्कृष्ट एवं सजीव बन पड़े हैं, जैसे—

'घन घोर घने दशहू दिशि छाए ।
मघवा जनु सूरज पै चढि आए ।।
अपराध विना क्षिति के तन ताए ।
तिन पीड़ित पीड़ित ह्वै उठि धाए ।

सीताजी की स्थिति कितनी करुण बन पड़ी है—

धरे एक वेनी मिली मैल सारी ।
मृणाली मनो पंक सों काढि डारी ।'

आचार्य केशवदास ने 'वीरसिंह देव चरित' नामक अपनी रचना में वीरसिंह बुंदेला का यशगान किया है। इसी प्रकार 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' नामक कृति में जहाँगीर की प्रशंसा की गई है । 'रतन बावनी' एक वीररसात्मक काव्य है और 'विज्ञान गीता' एक अत्यन्त साधारण कृति है। रोचक संवाद इनके काल की अनुपम विशेषता है। चित्रोपम वर्णन इनके काव्य में अनोखी छटा बिखेरते हैं। इन्होंने अपने काव्य में शृंगार के पूर्वराग, संयोग और वियोग तीनों ही अवस्थाओं का सुन्दर वर्णन किया है । इस व्यक्ति ने प्रतिभा होने पर भी उसका समुचित उपयोग नहीं किया । किसी भी विषय को रसात्मक बनाने के लिये कल्पना के उचित प्रयोग द्वारा जिस भव्य चित्र-योजना की अपेक्षा होती है उसको वह प्रायः उपेक्षित ही कर गया है । इसका कारण वस्तुतः यही मानना चाहिए कि इस प्रकार के वर्णनों में उसका मन नहीं रमा—बुद्धि के सहारे ही सब कुछ किया गया है, क्योंकि दूसरी ओर राजसी ठाठबाट के वर्णनों में उसका काव्य अत्यन्त बिखरा हुआ प्रतीत होता है । अभिव्यंजना की दृष्टि से भी केशव का समग्र साहित्य शिथिल कहा जाएगा । उसमें न तो भावों के अनुकूल गुण और रीति का उपयोग किया गया है और न शब्दों का ही यथार्थ प्रयोग हुआ है । वस्तुओं के रूप, रंग, आकार आदि को स्पष्ट करने के लिये जिन उपमानों की अपेक्षा होती है उनको प्रस्तुत करने पर भी विषयों को अस्पष्ट अथवा हास्यास्पद बना दिया गया है । इसके अतिरिक्त छन्दों में भी कहीं-कहीं अनगढ़पन हैं । न्यूनपदत्व और अधिकपदत्व के कारण इनमें और भी भोंड़ापन आ गया है । भावों की मौलिकता की भी इनमें न्यूनता है—अधिकांश विदग्ध उक्तियाँ

संस्कृत की उक्तियों का ब्रजभाषा में रूपान्तरमात्र है। फिर भी, यह मानना होगा कि यदि केशव का आविर्भाव न हुआ होता तो रीतिकालीन कवि अपने युग की कविता को कला-शिल्प की दृष्टि से मूल्यवान बना सकते, इसमें सन्देह है।

बिहारी :

बिहारी रीतिकाल के प्रमुख कवि हैं। इनका जन्म 1595 ई. में ग्वालियर के समीप बसुआ गोविन्दपुर नामक ग्राम में हुआ। इनके पिता का नाम केशवराय था जो चौबे ब्राह्मण थे तथा निम्बार्क सम्प्रदाय के महन्त नरहरिदास के शिष्य थे। इनका बचपन बुन्देलखण्ड में व्यतीत हुआ तथा वहाँ से ये अपने यौवन काल में वृन्दावन आये।[6] यहीं पर इनका मथुरावासी ब्राह्मण की कन्या के साथ विवाह सम्पन्न हुआ। ये अपने पिता के संरक्षण में पहले ही प्राकृत-संस्कृत के ग्रन्थों का अध्ययन कर चुके थे। अतः वृन्दावन में इन्होंने फारसी काव्य का गहन अध्ययन कर उसमें दक्षता प्राप्त की। कुछ ही समय बाद जब मुगल सम्राट शाहजहाँ वृन्दावन आये, तब इन्होंने उन्हें कविता-पाठ से प्रसन्न किया। बादशाह इनके काव्य कौशल पर मुग्ध होकर इन्हें अपने साथ आगरा ले गये।[7] अपने आगरा-निवास के दौरान इन्हें शहजादे के जन्मोत्सव के जलसे में अनेक आगन्तुक राजा-महाराजाओं के बीच काव्य-पाठ करने का अवसर मिला। इसी समय इनकी मुलाकात महाराजा जयसिंह से हुई। उन्होंने इनकी योग्यता से प्रभावित होकर इनकी वार्षिक वृत्ति निश्चित की। एक बार ये अपनी वार्षिक वृत्ति लेने आमेर गये तो इन्होंने राजा जयसिंह को अपनी नवोढ़ा रानी के प्रेमपाश में बँधा पाया। उन्हें पुनः अपने कर्तव्यों की ओर प्रवृत्त करने के लिये इन्होंने मालिन के हाथ एक दोहा लिख कर महाराज के पास भिजवाया, जिसने राजा-रानी का हृदय जीत लिया। तत्पश्चात ये आमेर में ही स्थायी निवास करने लगे—

> 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहिं काल।
> अली कली ही सों बिध्यों, आगे कौन हवाल।।'

इस दोहे की रचना करने पर इन्हें काली पहाड़ी ग्राम भी पुरस्कारस्वरूप मिला और साथ ही राजा ने इन्हें वचन दिया कि वे उन्हें प्रत्येक दोहे पर एक स्वर्ण मुद्रा देंगे। अपने जयपुर प्रवास के दौरान ही इन्होंने 712 दोहों का 'बिहारी सतसई' नामक एक ग्रंथ लिखा। ऐसा माना जाता है कि यह ग्रंथ 1662 ई. में पूर्ण हुआ। विद्वानों ने अनुमान लगाया है कि इनकी मृत्यु 1663 ई. में हुई।

बिहारी सतसई ग्रन्थ 'गाथा सप्तशती', 'आर्या सप्तशती' व 'अमरुक शतक' आदि ग्रंथों की प्रेरणा से लिखा गया।

का महत्वपूर्ण स्थान है। इसमें अलंकार, भाव, रस, नायिकाभेद, ध्वनि, वक्रोक्ति, रीति, गुण आदि पर रचित श्रेष्ठ दोहों का संग्रह है। इसमें अलंकार चमत्कार के साथ-साथ भाव-सौन्दर्य भी विद्यमान है। यह एक रीतिबद्ध रचना है। 'बिहारी सतसई' पर रचित अनेक टीकायें इसकी लोकप्रियता का प्रमाण है। इनके छोटे-दोहों में भावनाओं का अथाह सागर लहरा रहा है—

'सतसैया के दोहरे ज्यों नाविक के तीर।
देखन में छोटे लगैं घाव करैं गम्भीर।।'

बिहारी सतसई का प्रमुख विषय शृंगार है क्योंकि इसमें 558 दोहे शृंगार विषयक, 50 दोहे भक्ति विषयक, 45 नीति विषयक, 35 प्रकृति विषयक, 17 दर्शन व ज्योतिष विषयक तथा 7 दोहे आमेर नरेश जयसिंह विषयक हैं। इसी विषयानुपात के आधार पर [कहा गया है कि बिहारी ने अपने काव्य में शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी प्रवाहित की है। डॉ. ग्रियर्सन ने भी कहा है कि यूरोप में बिहारी सतसई के समकक्ष कोई रचना नहीं है। इन्होंने अपने काव्य में प्रेम और कला दोनों के महत्व को स्वीकार किया है—

'तन्त्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े तिरे, जे बूड़े सब अंग।।'

बिहारी ने अपने काव्य में ब्रजभाषा का प्रयोग किया। ब्रजभाषा के शब्दो का सटीक एवं परिमार्जित प्रयोग इनके दोहों में मिलता है। यहाँ शब्द मानों नगीनों की तरह जड़े हैं—

'अँग-अँग नग जगमगति दीप सिखा-सी देह।
दिया बुझाए हूँ रहें, बड़ो उजेरो गेह।।'

सच पूछा जाये तो बिहारी अपने संक्षिप्त वर्णन और नपे-तुले शब्दों में किसी वस्तु, व्यक्ति या भाव का जगमगाता रूप निखारकर प्रस्तुत करते है। उनके रूप-वर्णन, वय: सन्धि के चित्रण तथा मादक एवं गदराई युवावस्था की मधुर झलकें मन को मुग्ध कर लेती हैं और ये चित्रण केवल काल्पनिक न होकर जीवन के यथार्थ रूप है। बिहारी ने अपनी पैनी दृष्टि से जीवन का निरीक्षण किया था, अत: उन्होंने युवा-वृत्तियों का सजीव चित्रण किया है। शृंगार के संयोग-पक्ष के चित्रण में वे सिद्धहस्त हैं। आन्तरिक भावना से प्रेरित शारीरिक चेष्टाओं तथा विभिन्न कार्यकलाप का चित्रण बिहारी इस प्रकार करते हैं कि वह मानस-पटल पर सदा के लिये अमिट हो जाता है। उन्होंने केवल भावुकता-वश सौन्दर्य-चित्रण नहीं किया, वरन, जीवन के प्रौढ़ अनुभवों का भी उद्घाटन किया है। वे अपने

भावों और विचारों को कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की विलक्षण प्रतिभा से सम्पन्न थे। भक्ति एवं नीति के मार्मिक दोहे भी उन्होंने लिखे हैं। इस प्रकार बिहारी सतसई शृंगार, भक्ति और नीति की त्रिवेणी है।[6] कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि बिहारी सतसई ही कवि बिहारी की लोकप्रियता का आधार है। सम्पूर्ण हिन्दी साहित्य जगत् बिहारी सतसई से अत्यधिक प्रभावित हुआ है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने बिहारी लाल को रीतिकाल का सबसे अधिक लोकप्रिय कवि कहा है।[7] डॉ. विश्वनाथ मिश्र ने बिहारीलाल को हिन्दी मुक्तक साहित्य का बेजोड़ कवि बताया है।[8] लाला भगवानदीन बिहारीलाल को हिन्दी साहित्य का चौथा रत्न मानते हैं।[9] डॉ. श्यामसुन्दर दास बिहारी सतसई को रामचरितमानस के बाद की सबसे अधिक प्रचारित कृति स्वीकारते हैं।[10]

मतिराम :

मतिराम का जन्म 1603 ई. में उत्तर प्रदेश के जिला फतेहपुर के बनपुर नामक स्थान पर हुआ था। कहा जाता है कि ये जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा कवि चिन्तामणि और भूषण के सहोदर थे। मतिराम अनेक राजाओं के आश्रय में रहे तथा इन्होंने उनकी रुचियों के अनुरूप अनेक ग्रन्थों की रचना की। कुछ विद्वानों ने मतिराम नाम के दो कवि बताये हैं किन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। बचपन से ही इनमें काव्य-सृजन की प्रतिभा मौजूद थी। इन्होंने कुल मिलाकर आठ ग्रन्थों की रचना की—फूल मंजरी, ललित ललाम, सतसई, अलंकार पंचाशिका, रसराज, वृत्त कौमुदी, लक्षण शृंगार और साहित्यसार।

'फूलमंजरी' इनकी प्रथम रचना है। इसकी रचना 1619 ई. में मुगल सम्राट जहाँगीर के आश्रय में की गयी थी। इसमें कुल मिलाकर साठ दोहों का संकलन किया गया है। इस कृति मे एक दोहे के अतिरिक्त अन्य सभी दोहों में विभिन्न फूलों का नामोल्लेख किया गया है। इनकी दूसरी कृति 'रसराज' है, जिसकी रचना 1633 से 1643 ई. के मध्य की गयी। ऐसा माना जाता है कि इस कृति के लेखन के समय मतिराम किसी नरेश के आश्रय में नहीं थे। इस कृति की रचना 'भानुदत्त' की 'रसमंजरी' के आधार पर की गयी है। इसका वर्ण्य-विषय शृंगार रस तथा नायक-नायिका भेद से सम्बन्धित है। कवि ने इस रचना में नायक के पति, उपपति तथा वैसिक नामक तीन वर्ग निर्धारित किये गये हैं। इसी प्रकार इन्होंने नायिका को भी तीन वर्गों में विभाजित किया है—स्वकीया, परकीया और गणिका। इन्होंने स्वकीया नायिका को भी मुग्धा, मध्या और प्रौढ़ आदि तीन वर्गों में विभाजित किया है। इसके साथ ही इस कृति में उद्दीपन, अनुभाव, सात्विक भाव तथा हाव आदि का भी वर्णन किया गया है।

'ललित ललाम' 1661–64 के मध्य बूँदी नरेश राव भावसिंह हाड़ा के आश्रय में लिखी गयी। इसमें सौ अलंकारों का लक्षण व उदाहरण सहित विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ अलंकारों के लक्षणों को दोहों में तथा उदाहरणों को कवित्त, सवैया छन्दों में निबद्ध किया गया है। यहाँ प्रमुखतः अर्थालंकारों का विवेचन किया गया है। कहा जाता है कि इस ग्रन्थ-रचना से प्रसन्न होकर राजा भावसिंह ने इन्हें चार सहस्र रुपये बत्तीस हाथी तथा दो ग्राम जागीर स्वरूप प्रदान किये थे। 1681 ई. के आसपास इन्होंने 'सतसई' की रचना की। किन्हीं भोगनाथ के आश्रय में इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी। उल्लेखनीय है कि इन भोगनाथ की अभी तक कोई स्पष्ट पहचान नहीं हो पाई है। इसमें इन्हीं भोगनाथ का यशगान किया गया है। इसमें 703 मुक्तक दोहे हैं, जिनमें भोगनाथ को शरणागत वत्सल, युद्धवीर और दानवीर जैसी उपाधियों से विभूषित किया गया है। इसका भी प्रमुख विषय शृंगार ही है। इसके कुछ प्रारम्भिक दोहे भक्तिभावना से परिपूर्ण हैं। इनमें कुछ नीति विषयक दोहे भी हैं। अधिकांश दोहे नायक-नायिकाओं के राग-रंग, उद्दाम, यौवन, अतृप्त वासना, सौन्दर्य, संयोग शृंगार तथा वियोग शृंगार से सम्बन्धित हैं। शृंगार-वर्णन में कहीं-कहीं ऊहा का भी सहारा लिया गया है—

'दियै देह दीपति गयो, दीप बयारि बुझाइ।
अचल ओट किये तऊ चली नवेली जाइ॥'

वियोग शृंगार के अन्तर्गत विरहिणी नायिका की मानसिक दशाओं का सुन्दर चित्रण किया गया है।

1690 ई. में कुमायूँ नरेश ज्ञानचन्द के आश्रय में इन्होने 'अलंकार पंचाशिका' नामक काव्य की रचना की। 'वृत्त कौमुदी' काव्य की रचना बुन्देलखण्ड स्थित श्रीनगर नरेश स्वरूपसिंह बुन्देला के आश्रय काल में 1701 ई. में की गयी। इनकी कृतियों में शुद्ध ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। इनकी भाषा सरस, सरल एवं प्रवाहपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल ने इनके विषय मे लिखा है—'भारतीय जीवन से छाँटकर लिये हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रो में जो भाव भरे है वे समान रूप से सबकी अनुभूति के अंग हैं। रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ कर और किसी कवि में मतिराम की सी चलती भाषा और सरस व्यंजना नही मिलती।'

महाराज जसवंतसिंह :

महाराज जसवन्तसिंह का जन्म 1626 ई. मे मारवाड़ में हुआ। 1638 ई. में ये मारवाड़ की गद्दी पर बैठे। ये औरंगजेब के समकालीन एक प्रतापी हिन्दू

राजा थे। कहा जाता है कि इनकी मृत्यु 1678 ई. में हुई। ये युद्ध-कौशल में जितने प्रवीण थे, उतने ही काव्य प्रेमी भी थे। इन्होंने अपने दरबार में मर्मज्ञ कवियों और साहित्यकारों को संरक्षण प्रदान किया। 'अपरोक्ष सिद्धान्त', 'अनुभव प्रकाश', 'आनन्द विलास', 'सिद्धान्त सार', 'भाषा-भूषण', 'सिद्धान्त बोध' और प्रबोध चन्द्रोदय (नाटक) इनकी मुख्य कृतियाँ हैं। इनका 'भाषा भूषण' अलंकार ग्रन्थों में पर्याप्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें कहीं-कहीं चन्द्रालोक की छाया मिलती है। एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों मिल जाते हैं, जो विद्यार्थियों को सूत्ररूप से याद करने के लिये बहुत उपयोगी हैं।[11] इसमे कुल मिलाकर 212 दोहे हैं जो ब्रजभाषा में लिखे गये हैं। यद्यपि यह एक अलंकार प्रधान ग्रंथ है फिर भी इसमें रस-निरूपण और नायक-नायिका भेद को प्रश्रय दिया गया है। इसमें शब्दालंकारों की अपेक्षा अर्थालंकारों की ओर अधिक ध्यान दिया गया है। कुछ अलंकारो के उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

1. 'स्वभावोक्ति यह जानिए, बर्नन जाति-सुभाय।
   हँसि-हँसि उझकति फिरि हँसति मुँह मोरति इतराय।।'
2. 'लोकोक्ति कछु वचन जो, लीन्हें लोक-प्रवाद।
   नैन मूँदि षटमास लौ सहि यों बिरह-विषाद।।'
3. 'वक्रोक्ति स्वर स्लेष सों, अर्थ-फेर जो होय।
   रसिक अपूरब हो पिया, बुरो कहत नहिं कोय।।'

इनके 'अवरोक्ष सिद्धान्त', 'सिद्धान्त बोध', 'सिद्धान्त सार' तथा 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक आदि ग्रन्थ तत्व ज्ञान से सबद्ध हैं।

भूषण :

भूषण का जन्म कानपुर के निकट तिकवाँपुर ग्राम मे 1613 ई में हुआ। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। ये जाति से कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। अपने जीवन के प्रारम्भिक बीस वर्ष तक इनका काव्य से कोई सम्बन्ध नही था और न ही ये शिक्षित थे। लोकश्रुतियों के अनुसार इन्होने एक बार अपनी भाभी से नमक माँगा उन्होंने बदले में भूषण से कुछ कटु शब्द कह दिये। इसके बाद ही इन्होंने घर छोड दिया और विद्याध्ययन की ओर उन्मुख हुए। इसके बाद इन्होंने काव्य-सृजन शुरू किया। इनके वास्तविक नाम के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। कुंवर महेन्द्रपालसिंह ने इनका वास्तविक नाम 'पतिराम' बताया है। उन्होंने लिखा है कि भूषण के इस नाम की जानकारी उन्हें तिकवाँपुर ग्राम के एक भाट से मिली।[12] पं. विश्नाथ प्रसाद मिश्र ने इनका वास्तविक नाम घनस्याम बताया है।[13] इनकी मृत्यु 1715 ई. में हुई मानी जाती है। चित्रकूट नरेश

'रुद्रसाह् सोलंकी' ने इन्हें भूषण की उपाधि से विभूषित किया था तथा उसके बाद से इनका यही नाम लोकप्रचलित हुआ।[14]

भूषण ने कई राज-दरबारों की शोभा बढ़ाई लेकिन इनका मन शिवाजी और छत्रसाल के दरबार में ही रमा। ये साहूजी के दरबार में भी गये। इन्होंने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का खुलकर गुणगान किया। ऐसा प्रसिद्ध है कि इनके काव्य से प्रसन्न होकर छत्रसाल ने इनकी पालकी को कंधा दिया था। इन्होने तीन काव्य-ग्रन्थ लिखे—शिवराज भूषण, शिवाबावनी तथा छत्रसाल दशक। कुछ विद्वानों का मत है कि इन्होंने भूषण उल्लास, दूषण-उल्लास और भूषण हजारा नामक तीन ग्रन्थ काव्य भी रचे थे किन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता। ये लगातार सात वर्ष तक शिवाजी के दरबार में रहे और इन्होने 1673 में 'शिवराज भूषण' नामक काव्य की रचना की। इस ग्रन्थ ने इन्हें अक्षय कीर्ति प्रदान की। इस काव्य में भूषण ने अलंकारों के उदाहरण स्वरूप शिवाजी के ओजस्वी व्यक्तित्व का अंकन किया है। यह काव्य सवैया छन्द मे निबद्ध है। इसमें कुल 105 अलकारों का वर्णन किया है, जिनमें से 99 अर्थालंकार, 4 शब्दालंकार तथा शेष 2 चित्र व संकर नामक अलंकार है। इस काव्य का प्रारम्भ गणेश और भवानी की स्तुति से किया गया है। इस ग्रंथ की रचना के उद्देश्य के विषय में उन्होने स्वय लिखा है—

'सिव चरित्र लखि यो भयो कवि भूषण के चित्त।
भाँति-भाँति भूपननि सो भूषित करौ कवित्त॥'

उल्लेखनीय है कि इसमें अलंकारों के लक्षण दोहो में तथा उनके उदाहरण में कवित्त-सवैयो में दिये गये है। इस ग्रन्थ मे शिवाजी को लोकनायक के रूप में स्थापित किया गया है—

'इन्द्र जिमि जम्भ पर, बाड़व सुअम्भ पर
रावन सदम्भ पर रघुकुल राज है।
पौन बारिबाह पर, सम्भु रतिनाह पर
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज है।
दावा द्रुम दण्ड पर चीता मृग झुण्ड पर
'भूषण' वितुण्ड पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर कान्ह जिमि कंस पर
त्यों मलिच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥'

इसके अतिरिक्त 'शिवा बावनी' में भी भूषण ने शिवाजी के चरित्र को अभिव्यक्त किया है। 'छत्रसाल दशक' में बुन्देलखण्ड के शासक वीर छत्रसाल की

वीरता को ओजपूर्ण भाषा में गुणगान किया गया है। कुछ विद्वानों ने दो हिन्दू-नरेशों की प्रशंसा करने के कारण भूषण के काव्य को संप्रदायवाद की संकीर्ण मनोवृत्ति का परिचायक बताया है किन्तु यह मत उचित प्रतीत नहीं होता। वास्तविकता तो यह है कि भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल को युग-आदर्श मानकर ही इन्हें अपने काव्य का नायक बनाया। राष्ट्रीयता की भावना उस समय जिस रूप में भी प्रचलित थी, उसे पूर्ण रूप से विकसित करने का श्रेय भूषण को ही है। भूषण ने अपने युग में उत्पन्न अनीति और अत्याचार का खुलकर विरोध किया। वीररस के अतिरिक्त रौद्र, भयानक और वीभत्स रसों का प्रयोग भी भूषण के काव्य में मिलता है। इन्होने अपना काव्य ब्रजभाषा में लिखा। तथापि इनके काव्य में प्रचलित अरबी, फारसी व बुन्देलखण्डी भाषाओं के शब्दों के भी उत्कृष्ट प्रयोग देखे जा सकते हैं। इन्होंने आवश्यकतानुसार भाषा को तोड़ा-मरोड़ा भी है। उदाहरण के लिये इनके काव्य में गय-वर गैंबर तथा हय-वर 'हैबर' बन कर रह गया है। प्रबन्ध व मुक्तक शैली के सफल प्रयोग इनके काव्य में देखे जा सकते हैं। बाबू गुलाबराय ने इनके विषय में लिखा है—'भूषण रीतिकाल के कवि अवश्य थे, और उनके प्रमाण में अलंकार-ग्रंथ भी लिखे, किन्तु अलंकार उनके साध्य न थे, वरन् वे उनके भावों के प्रकाशन के लिये साधन मात्र थे। उनके काव्य में उनके हृदय की उमंग का परिचय मिलता है। जैसे देव और मतिराम के हृदय की उमंग शृंगार रस के रूप में प्रवाहित हुई थी, उसी प्रकार भूषण के हृदय की हिलोर वीर-रस में उमड़ पड़ी थी।'[15]

देव :

देव रीतिकाल के प्रमुख कवियों में से हैं। इनका पूरा नाम देवदत्त था तथा ये मूलतः इटावा के रहने वाले थे। इनकी जाति के विषय में विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। मिश्र बन्धु इन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण मानते हैं जबकि आचार्य शुक्ल ने इन्हें सनाढ्य ब्राह्मण बताया है। 'भाव विलास' के अनुसार इनका जन्म स. 1730 में हुआ। इनका सम्पूर्ण जीवन अस्थिरता में बीता। इन्होंने अनेक शासकों के दरबार में आश्रय प्राप्त किया। इनके आश्रयदाताओं में आजमशाह भवानीदत्त वैश्य, कुशलसिंह, उदोतसिंह तथा भोगीलाल के नाम उल्लेखनीय हैं। राजा भोगीलाल ने इनकी योग्यता को पहचाना। यही कारण है कि इन्होंने बाद का अपना अधिकांश समय राजा भोगीलाल के ही दरबार में बिताया। इन्होंने अपना कुछ समय औरंगजेब के पुत्र आजमशाह के दरबार में भी बिताया। इसे हिन्दी से विशेष प्रेम था। इनकी मृत्यु 1824 सं. हमें बाद होनी सिद्ध होती है। देव की रचनाओं की संख्या के विषय में आज भी पर्याप्त मतभेद है। आचार्य शुक्ल का विचार है कि इन्होने 25 ग्रन्थ लिखे जबकि मिश्रबन्धु इनके ग्रंथों की संख्या 52 मानते हैं। डॉ. शिवसिंह सरोज के अनुसार इन्होंने 72 ग्रन्थों की रचना की। डॉ. नगेन्द्र ने तो

इनके 16 उपलब्ध ग्रंथों का ही उल्लेख किया है—भाव-विलास, अष्टयाम, भवानी-विलास, प्रेम-तरंग, कुशल-विलास, जाति-विलास, रस-विलास, सुजान-विनोद, शब्द-रसायन, सुख-सागर-तरंग, प्रेम-चन्द्रिका, राग-रत्नाकर, देव-शतक, देव-चरित्र, देव-माया-प्रपंच और शिवाष्टक। इनके अतिरिक्त प्रेम पच्चीसी, तत्व-दर्शन पच्चीसी, जगद्दर्शन पच्चीसी और आत्म-दर्शन पच्चीसी आदि कुछ पच्चीसियां भी इनकी मानी जाती हैं।

भाव-विलास के अन्तर्गत देव ने छः प्रकार के भावों और चौंतीस प्रकार के संचारी भावों का उल्लेख किया है। इसमे कवि ने काव्य के विविध अंगों पर प्रकाश डालने के साथ-साथ लौकिक व अलौकिक रसों की कल्पना भी कर डाली है। अलौकिक रस को इन्होंने पुनः तीन भागों मे विभाजित किया है—स्वप्न, मनोरथ और उपनायक। अष्टयाम के अन्तर्गत निरन्तर चलने वाले विलास का वर्णन है। भवानी–विलास में रसों की विशद् व्याख्या है तो शब्द रसायन में शब्द-शक्ति, वृत्ति गुण, रस और अलंकारो का व्यापक चित्रण हुआ है। रस–विलास में स्त्रियों के भेदोपभेद और नायिका भेद का विस्तार से उल्लेख किया गया है। सुजान-विनोद नायिका भेद का ग्रन्थ है तो प्रेम-चन्द्रिका शृंगार रस के रस-राजत्व को प्रमाणित करने वाली कृति है। देव-चरित्र का विषय पौराणिक है और इसमें कंस के वध का विस्तार से उल्लेख है। सुख-सागर-तरंग में नायिका भेद व ऋतु-वर्णन चित्रित है। देव-माया-प्रपंच नाटक मे धर्म और माया का संग्राम निरूपति करने के साथ-साथ माया की महिमा गायी गई है। प्रेम-तरंग में नायिका भेद दर्शाया गया है।

देव अपने कवित्व के लिए भी प्रसिद्ध है। सच तो यह है कि आचार्यत्व की तुलना मे इनकी कवित्व शक्ति की कही अधिक प्रशंसा हुई है। ये स्वभाव से रसिक थे, परिणामतः इनके काव्य का मूल विषय शृंगार है। इनकी रचनाओं में प्रेम के दाम्पत्य सम्बन्धी आदर्श को अत्यन्त मधुर रूप में अभिव्यक्त किया गया है। "प्रेम-चन्द्रिका" मे प्रेम की विविध अवस्थाओं का चित्रण करने में इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। स्वाभाविकता का पालन करने के कारण इनका विरह वर्णन भी प्रभावी है। "सुजान विनोद" में इन्होने पूर्ण तन्मयता के साथ ऋतु वर्णन किया है और षट् ऋतुओं को नायिका भेद से मिलाकर नायिका भेद विषयक एक नया वर्गीकरण प्रस्तुत किया है। वृद्धावस्था में लिखी गई रचनाओं मे वैराग्य भावना की वृत्ति ही अधिक देखने को मिलती है। इस आयु में रचे गए ग्रन्थों में इन्होंने ईश्वरीय भक्ति, संसार की क्षणिकता तथा विभिन्न मत-मतान्तरो का सफलतापूर्वक प्रतिपादन किया है। "देव ने भावाभिव्यक्ति के लिए साहित्यिक ब्रजभाषा को माध्यम रूप में ग्रहण किया है। इनका शब्दकोष अत्यन्त समृद्ध है और उसमें ब्रजप्रदेश में प्रयुक्त तद्भव एवम् देशज शब्दों के अलावा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश

के शब्दों का भी अच्छा खासा भण्डार है। शब्दो के विपयानुरूप प्रयोग में ये दक्ष हैं। इनकी भापा में लाक्षणिकता तथा व्यंग्यात्मकता का सहज संगुफन है। अनुप्रास तथा यमक अलंकारों के प्रयोग के प्रति मोह तथा तुक आदि का ध्यान रखने के कारण इनकी काव्य-भापा में शब्दों की तोड़-मरोड़ एवम् व्याकरण रूपो की अव्यवस्था भी परिलक्षित होती है, किन्तु छन्दों के सहज प्रयोग के कारण ये दोप अखरते नही हैं।[1]

6

इसी क्रम में यह कथन भी उल्लेखनीय है जिसमें देव के काव्य-सौष्ठव व विवेचन पद्धति की प्रशंसा की गई है।—"शब्दों को अर्थ की मिठास में डुबोकर और व्यंजना के मनमोहन रंगों में रंग कर देव ने हिन्दी कविता को कला की चरम स्थिति तक पहुँचा दिया है। निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि विवेचन पद्धति, काव्य-सौष्ठव, शब्दों के उपयुक्त प्रयोग और विषय प्रतिपादन शैली की दृष्टि से इनके ग्रंथ अद्वितीय हैं। ये वास्तव में ऐसे विरले कवियों मे से हैं, जिनमें कवित्व के साथ-साथ आचार्यत्व के भी दर्शन होते है।"[17] ऐसे प्रतिभा-सम्पन्न कवि की रचना का एक उदाहरण दृष्टव्य है—

धार में धाइ धँसी निरधार ह्वै जाय फंसी उकसीन अबेरी,
री अंगराइ गिरी गहरी गहि फेरे फिरीं औ घिरी नहिं घेरी,
"देव" कछु अपनो बसु ना रस लालच लाल चितै भई चेरी,
बेगि ही बूडि गई पंखियां अंखियां मधु की मखियां भई मेरी ॥

भिखारीदास

रीतिकाल के आचार्य कवियों में भिखारीदास का नाम पर्याप्त प्रसिद्ध और चर्चित रहा है। ये जाति के श्रीवास्तव कायस्थ थे और इनका निवासस्थान प्रतापगढ़ के पास "ट्योंगा" ग्राम था। इनका "काव्य-निर्णय" नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इनमे काव्य-प्रकाश की छाया है किन्तु इन्होने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है कि इसमें उनके स्वतन्त्र विचार है, उल्था नही है—"यही बात सिगरी कहत उलथो होत।" इसके अतिरिक्त, इनके अग्रलिखित ग्रन्थों का और पता चलता है रस-सारांश, छन्दार्णव पिंगल, शृंगार-निर्णय, नाम-प्रकाश, विष्णु-पुराण-भापा, छन्द-प्रकाश, शतरंज-शतिका और अमरप्रकाश इनका कविता काल संवत् 1785 से सं० 1807 तक माना जा सकता है। इन्होने अपने "काव्य-निर्णय" में प्राय. सभी काव्यांगो पर विवेचन किया है। इसमे काव्य के गुण और शब्द की शक्ति आदि अंगों पर भी विचार किया गया है। इन्होने भापा के सम्बन्ध में भी अपने विचार प्रकट किये है। ब्रजभापा के सम्बन्ध मे वे कहते हैं—

ब्रज-भापा भापा रुचिर, कहै सुमति सब कोय।
मिलै संस्कृत पारस्यो, पै अति प्रकट जु होय ॥

ब्रज मागधी मिले अमर, नाग यवन भाखानि
सहज पारसी हू मिलै, पट विधि कवित बखानि ।।

ब्रजभाषा काव्य करने के लिए इन्होने ब्रजवास आवश्यक नही माना—"ब्रजभाषा हेतु ब्रजवास ही न अनुमानो, ऐसे कविन की वाणी हूँ से जानिए" ये स्वयं भी ब्रजवासी न थे। इनकी भाषा साहित्यिक और परिमार्जित है। दासजी ने शब्दाडम्बर और भाषा-चमत्कार की ओर कम ध्यान दिया है। काव्यांगों के निरूपण में इन्होने बड़े संयम से काम लिया है। अपने विषय का प्रतिपादन और भावों का प्रकाशन ही इनका मुख्य उद्देश्य है। इसका अभिप्राय यह नही कि इनकी कविता नीरस है। दासजी की गणना उच्च कोटि के कवियो में है। उदाहरण देखिए—

एक लहैं तप पुन्जन्ह के फल, ज्यो तुलसी अरु सूर गुसाई।
एक लहैं बहु सम्पत केशव, भूषन ज्यों बरबीर बड़ाई ।।
एकन्ह को जस ही सों प्रयोजन, है रसखान रहीम की नाई।
दास कवित्तन्ह की चरचा, बुधिवन्तन्ह को सुखदै सब ठाई ।।

इसमें काव्य-प्रकाशन की "काव्य यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे" आदि की अपने ढंग से व्याख्या है, देखिए निम्न पंक्तियाँ—

ऊधो ! तहाँई चलो लै हमें, जहँ कूबरि कान्ह बसै एक ठौरी।
देखिए दास अघाय अघाय, तिहारे प्रसाद मनोहर जौरी ।।
कूबरि सौ कछु पाइये मन्त्र, लगाइए कान्ह सो प्रीति की डोरी।
कूबरि भक्ति बढाइए बंदि, चढ़ाइए चन्दन बन्दन रोरी ।।

"भिखारीदास" कविता की दृष्टि से एक सफल कवि थे। इन्हें व्यंजना पर पूर्ण अधिकार था। जिस बात को जिस शैली में ये कहना चाहते थे, उसे अद्वितीय ढंग से कह डालते थे। ये न तो शब्द चमत्कार के पीछे दौड़े और न कल्पना के पीछे ही उड़ान भरी। इनकी साहित्यिक ब्रज भाषा सरस व आडम्बरहीन है। इनका कला पक्ष संयत व रस का पोषक है।[18] निम्नांकित पंक्तियाँ देखिए—

चारू मुखचंद को चढ़ायो विधि किंशुक कै,
शुकन यों बिम्बाधर लालच उमग है।
नेह उपजावन अतूल तिल फूल कैधों,
पानिप सरोवर को उरमी उतंग है।
दास मनमथ साही कंचन-सुराही-मुख,
बांस जुम पालकी को पाल सुभ रंग है।
एक ही में तीनों पुर ईस को अंश-कैधों,
नाक नवला की सुरधाम सुर संग है।

नैनन को तरसैए कहाँ लों, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए ?
एक घरी न कहूँ कलपैए, कहाँ लगि प्रानन को कलपैए ?
आवै यही अब जी में बिचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घाटे तें कहा घटि है जु प्रान पियारे को देखन पैए ।।

पद्माकर

पद्माकर भट्ट की गणना रीतिकाल के अन्तिम श्रेष्ठ आलंकारिक कवि के रूप में की जाती है। इनके पिता का नाम मोहनलाल भट्ट था। इनका जन्म सन् 1753 में मध्यप्रदेश के सागर नामक स्थान में हुआ तथा मृत्यु सन् 1833 मे कानपुर मे। इन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक स्थानों का भ्रमण किया तथा सागर नरेश रघुनाथराव अप्पा महाराज जैतपुर, सुगरा निवासी नोने अर्जुनसिंह, दतिया नरेश महाराज पारीक्षित, शुजाउद्दोला के जागीरदार गोसाई अनूपगिरि। (उपनाम हिम्मत बहादुर), सितारा-नरेश रघुनाथराव, जयपुर-नरेश प्रतापसिंह और उनके सुपुत्र जगतसिंह, उदयपुर-नरेश महाराज भीमसिंह, ग्वालियर नरेश दौलतराव सिन्धिया आदि अनेक राजाओ के आश्रय में रहे। इन्होंने अपने प्रत्येक आश्रयदाता के लिए प्रशस्ति–मूलक रचनाएँ लिखी। वार्धक्य में ये कानपुर आ गए और वहाँ रहते हुए इन्होंने दो ग्रंथ-प्रबोध-पचासा तथा गंगा लहरी लिखे। पद्माकर भट्ट ने अपने जीवनकाल में सात मौलिक ग्रंथों की रचना की। हिम्मत बहादुर विरूदावली, पद्माभरण, जगद्विनोद, प्रबोधपचासा, गंगा लहरी, प्रतापसिंह विरुदावली और कलि-पच्चीसी। इन ग्रंथों के अतिरिक्त इन्होंने पर्याप्त स्फुट छंद भी लिखे तथा बाल्मीकि रामायण हितोपदेश आदि संस्कृत ग्रंथो के अनुवाद भी किए।

पद्माकर के काव्य का अनुशीलन करने पर यह पता चलता है कि शृंगार, भक्ति तथा राजप्रशस्ति इनके काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य विषय है और इन तीनों ही विषयो की अभिव्यक्ति में इन्हें पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है। इनकी सफलता का मूल आधार है कथ्य तथा अभिव्यक्ति की रमणीयता। ये अन्य अनेक रीतिकालीन कवियों के समान भावों के साथ खिलवाड करते हुए उसे उपहास की सीमा तक पहुँचने के स्थान पर अद्भुत कल्पना-शक्ति का ऐसा प्रयोग करते हैं कि भावों की सरलता तथा मधुरता पाठक के हृदय पर अपना आह्लादक प्रभाव छोड़ जाती है। वस्तुतः इनमें केशव के समान पैनी अन्त.दृष्टि मतिराम के समान भावों की सरलता तथा बिहारी के समान अपूर्व कल्पना-शक्ति परिलक्षित होती है। दुरूहता का परित्याग करते हुए, भावानुरूप शब्द योजना के माध्यम से संगीत-सृष्टि कर कथ्य का हृदयस्पर्शी बिम्ब प्रस्तुत कर देना इनके काव्य-शिल्प की अनूठी विशेषता है। इनकी काव्य-भाषा की इन्ही विशेषताओं को देखते हुए आलोचक प्रवर आचार्य

रामचन्द्र शुक्ल को लिखना पड़ा—"कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर पदावली द्वारा एक सजीव भावभरी प्रेममूर्ति खड़ी करती है, कहीं भाव या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिश्रित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीरदर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और फड़कती हुई चलती है और कहीं प्रशान्त सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास में ही दिखाई देती है।"[19]

इसी क्रम में दिनकर जी का मत भी द्रष्टव्य है, जिसमें पद्‌माकर की आकर्षक चित्रयोजना की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि "पद्‌माकर के हाथ में जो कलम थी, वह विचार कम, चित्र अधिक उठाती थी। दोनों में श्रेष्ठ कौन है? विचार उठानेवाला या चित्र बनानेवाला? कहना कठिन है। किन्तु, जहाँ काव्य कला का पर्याय माना जाता है, वहाँ चित्रकारी कविता का बहुत बड़ा गुण बन जाती है।"[20] उदाहरणार्थ देखिए—

हेरि हरे मुसकाय रही,
अँचरा मुख दै वृषभानुकिसोरी।
+ + +
नैन नचाइ कह्यो मुसुक्याइ
लला फिर आइयो खेलन होरी।

कुलपति मिश्र

रीतिकालीन कवियों में कुलपति मिश्र का विशिष्ट स्थान है। इन्होंने स्वय अपने आपको आगरा का निवासी बतलाया है और ऐसा संकेत रस-रहस्य नामक पुस्तक में दिया है। कुछ लोगों की यह धारणा भी है कि कुलपति मिश्र रीतिकाल के प्रसिद्ध कवि बिहारी के भानजे थे। ये कूर्मवंशीय महाराजा जयसिंह के पुत्र रामसिंह के आश्रय में रहते थे। इनकी प्रसिद्ध रचना रस-रहस्य, युक्ति-तरंगिणी, द्रोण-पर्व, नख-शिख, संग्राम-सार आदि है। रस-रहस्य में काव्यांगों का विवेचन किया गया है। नख-शिख में नायिका भेद की व्यापक चर्चा है, इन्होंने अपने साहित्य शास्त्र विषयक विवेचन के लिए काव्य-प्रकाश और साहित्य-दर्पण से काफी प्रभाव ग्रहण किया है। उल्लेखनीय बात यह है कि इन ग्रंथों में कुलपति ने अनुवाद मात्र प्रस्तुत नहीं किया है। अनेक स्थलों पर इनकी मौलिक उद्‌भावनाएँ भी देखने को मिलती हैं। यही कारण है कि रीतिकाल आचार्य कवियों की श्रेणी में आते हैं। इतिहासकारों ने कुलपति मिश्र को आचार्यत्व की दृष्टि से प्रथम श्रेणी का, और कवित्व की दृष्टि से द्वितीय श्रेणी का कवि माना है। इनकी सरस कविता का यह उदाहरण देखिए—

ऐसिय कुंज बने छवि पुंज रहें अलि गुंजत यों सुख लीजै ।
नैन विसाल हिये बनमाल विलोकत रूप-सुधा भरि पीजै ।
जामिनी जाम की कौन कहैं जुग जात न जानिए ज्यो छिन-छीजै
आनंद यों उमग्यो ही रहें पिय मोहन को मुख देखिवो कीजै ।।

इस प्रकार कह सकते हैं कि कुलपति मिश्र रीतिकाल के कवि आचार्य के रूप में विख्यात हैं तथा इन्हें चिंतामणि के समकक्ष रखा जा सकता है, किन्तु काव्यत्व में ये चिंतामणि से पीछे ही ठहरते हैं।

कुमारमणि :

कुमारमणि भट्ट वत्सगोत्री, तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम शास्त्री हरिवल्लभ भट्ट था। इनके पूर्वज 14-15वीं शताब्दी में दक्षिण भारत से मध्य भारत में आकर बस गये थे। कुमारमणि का जन्म सं. 1720 से 25 के बीच मानना चाहिए। इनके गुरु मण्डन कवि के पुत्र पुरुषोत्तम थे। इनके बनाये संस्कृत-ग्रंथ हैं, "रसिक-रंजन", "कुमार सप्तशती" तथा हिन्दी रचना है "रसिक रसाल"।

"रसिक रसाल" की रचना सन् 1719 ई. मे हुई थी। इसका प्रमुख आधार "काव्यप्रकाश" है जैसा कि इनके अन्तिम और प्रारम्भिक दोहे से स्पष्ट होता है :–

रस सागर रवि-तुरग विधु संवत मधुर वसन्त ।
विकस्यौ "रसिक रसाल" लखि, हुलसत सुहृदय सन्त ।।
काव्यप्रकाश विचार कछु रचि भाषा में हाल ।
पंडित सुकवि कुमारमनि कीन्हौं रसिक रसाल ।।

इसमें काव्य-प्रयोजन, काव्य-कारण तथा उत्तम, मध्यम, अधम काव्य का निरूपण हुआ है। ग्रन्थ के बीच-बीच में कहीं संस्कृत के ग्रंथों के मत तथा ब्रज भाषा गद्य की व्याख्या भी दी गयी है। छोटी-छोटी व्याख्याएँ इनके लक्षणों और उदाहरणों को स्पष्ट करने वाली हैं। उत्तम काव्य के भीतर विस्तार से रस, नायिका-भेद का ही वर्णन हुआ है। यों अलंकार, चित्र काव्य गुण काव्य-दोष आदि का वर्णन है। वियोग शृंगार को कुमारमणि ने तीन प्रकारो में विभाजित किया है–वर्तमान भूत और भविष्यत् और इसके बाद प्रवास, करुणात्मक, मान तथा पूर्वानुराग हैं। रस-वर्णन के प्रसंग मे स्थायीभाव का एक अलग अध्याय है, नव रसों के अतिरिक्त इन्होने दसवें वात्सल्य रस का भी उल्लेख किया है। नायिका-भेद के प्रसंग में भी कुछ नवीन नाम, जैसे प्रौढ़ा के उन्नतयौवना, वक्रवचना,. लघुसज्जा आदि दिए हैं "रसिक रसाल" मे काव्यांगों का पूरा विवेचन है और यह उत्तम ग्रन्थों में परिगणित किया जाता है।

सोमनाथ :

सोमनाथ माथुर ब्राह्मण नीलकण्ठ मिश्र के पुत्र थे। ये भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहां रहते थे। इन्ही के लिए इन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ "रस पीयूषनिधि" की रचना सं. 1794 में की थी। इनके बनाये अन्य ग्रंथ है—"शृंगारविलास", "कृष्ण लीलावती", "पंचाध्यायी", "सुजान विलास" और "माधवविनोद"। इनमें से "रसपीयूषनिधि" और "शृंगार विलास" काव्य-शास्त्र से सम्बद्ध ग्रंथ है और अभी तक अप्रकाशित है। "शृंगार विलास" वस्तुतः स्वतन्त्र ग्रंथ नहीं है। "रसपीयूषनिधि" में वर्णित नायिका भेद की सामग्री में नाममात्र का परिवर्तन करके इसे यही नाम दे दिया गया है। यह ग्रन्थ पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है। रसपीयूषनिधि विविध काव्यांग निरूपक ग्रन्थ है। इसमें शास्त्रीय लक्षण अधिकांशतः दोहे अथवा सोरठे मे एक दल में प्रस्तुत किए गए है और थोड़े स्थलों में पूर्ण छन्द में। उदाहरण के लिए अधिकतर कवित्त-सवैयों का प्रयोग हुआ है। ग्रन्थ में कहीं-कहीं गद्य का भी प्रयोग किया गया है, पर उसमें शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत न किया जाकर अधिकतर लक्षण उदाहरण का समन्वय मात्र प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ में काव्यस्वरूप, शब्द शक्ति, ध्वनि, रस, नायक-नायिका भेद, गुणीभूति व्यंग्य, दोष, गुण और अलकार के अतिरिक्त छन्द का भी निरूपण किया गया है। इस ग्रन्थ के निर्माण में सोमनाथ ने मम्मट, विश्वनाथ और भानुमिश्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त कुलपति के 'रसरहस्य' तथा जसवन्तसिह के "भाषाभूषण" से सहायता ली है।

ग्रन्थ-निर्माण का उद्देश्य सुबोध और ललित शैली में सुकुमार-बुद्धि पाठको को काव्यशास्त्रीय प्रारम्भिक ज्ञान देना प्रतीत होता है। यही कारण है कि वर्ण्य सामग्री के निर्वाचन में उन्होने सरल मार्ग का अवलम्बन किया है तथा वे इसे अत्यन्त संक्षिप्त और किन्ही स्थलो में अपूर्ण रूप से प्रस्तुत करते चले गये है। उदाहरणार्थ काव्यहेतु-प्रसंग में इन्होंने मम्मट-सम्मत "अभ्यास" का तो उल्लेख किया है, पर शक्ति और व्युत्पत्ति का नहीं। शब्दशक्ति-प्रकरण में आर्थी-व्यंजना के दस वैशिष्ट्यों मे से केवल चार पर प्रकाश डाला है। रसप्रकरण में भरत-सूत्र के चार व्याख्याताओं में से केवल एक अभिनवगुप्त के सिद्धांत की चर्चा की है और वह भी चलती सी। दोष-प्रसंग में केवल 19 दोषों का निरूपण किया है। इसी प्रकार नायक नायिका भेद प्रसंग तथा अलंकार-प्रकरण को छोडकर लगभग सर्वत्र यही स्थिति है। फिर भी इस ग्रन्थ का महत्व कम नही है। इसकी प्रमुख विशेषता है शास्त्रीय भाग का सरल भाषा में प्रतिपादन। उदाहरण के लिए देखिए:—

काव्य-प्रयोजन—

कीरति वित्त विनोद अरु अति मंगल को देति।
करै भलो उपदेश नित वह कवित्त चित चेति॥

रति-लक्षण—

इष्ट-मिलन की चाह जो रति समुझो सो मित्त।

विभावना प्रथम—

विना हेतु जहँ कारन सिद्ध। सो विभावना जानि प्रसिद्ध।।

इस ग्रंथ की अन्य विशिष्टता यह है कि इसमें ध्वनि और उसके अन्तर्गत रस तथा नायक नायिका भेद जैसे विशाल प्रसंगो को छोटी-छोटी 12 तरंगो में विभक्त करके पाठक को इनकी विशालता के भय से बचा लिया गया है।

इस ग्रन्थ के उदाहरणों की सरसता का एक नमूना लीजिए—

रचि भूषन आई अलीन के संग तें,
सासु के पास विराजि गई।
मुख चंद मऊपनि सों ससिनाथ,
सबै घर में छबि छाजि गई।
इनको पति ऐहै सबार सखी कह्यो,
यो सुनि कै हिय लाजि गई।
सुख पाइकै, नार नवाइ तिया,
मुस क्याई कै भौन मे भाजि गई।।

रसिक गोविन्द :—

रसिक गोविन्द वृन्दावनवासी महात्मा हरिदास के गद्दी-शिष्य थे। इनका कविता-काल सन् 1793 से 1833 ई. माना जाता है। इनके बनाये नौ ग्रन्थों का पता चला है जिनमें अधिकांश कृष्ण-भक्ति सम्बन्धी है। एक ग्रंथ "रसिक गोविन्दानन्दघन" में काव्यशास्त्र-विषयक सामग्री है। रसिक गोविन्दा नन्दघन की रचना सन् 1801 ई. में हुई थी। इसके अन्तर्गत अलंकार, गुण, दोष, रस तथा नायक-नायिकाओं का बड़ा विशद् वर्णन है। इसमें लक्षण ब्रजभाषा गद्य में तथा उदाहरण सरस ब्रजभाषा पद्य मे है। प्रश्नोत्तरों द्वारा काव्यशास्त्र सम्बन्धी अनेक शकाओं का समाधान किया गया है। लक्षण और उदाहरण दोनों में ही संस्कृत के ग्रन्थो में किये गये लक्षण उदाहरणों के अनुवाद से है और बीच-बीच में "ग्रन्थकर्ता को मत" देकर निजी विचार रसिक गोविन्द ने दिये हैं। प्रमुखतया इस ग्रन्थ के आधारभूत ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र', 'अभिनव-भारती" 'ध्वन्यालोक,' 'काव्यप्रकाश', 'सहित्य दर्पण', आदि हैं। प्रधानतया रसवादी लेखक हैं और "रसिक गोविन्दानन्दघन" 19वी शताब्दी के प्रारम्भ में लिखे हुए महत्वपूर्ण ग्रंथो में है।

प्रतापसाहि :

प्रतापसाहि बुन्देलखण्ड-निवासी रतनेस बन्दीजन के पुत्र थे। इनके आश्रय-दाता चरखारी (बुन्देलखण्ड) के महाराज विक्रमसाहि "शिवसिंह सरोज' के अनुसार

ये कवि महाराज छत्रसाल परनापुरन्दन के यहां भी रहे थे। इनका रचनाकाल सं. 1880 से 1900 तक माना जाता है। इनके द्वारा रचित ये ग्रंथ कहे जा सकते हैं—'जयसिंह-प्रकाश', 'शृंगारमंजरी', 'व्यंग्यार्थकौमुदी', 'शृंगार शिरोमणि' 'अलंकार-चिन्तामणि', 'काव्यविनोद' और 'जुगल नखशिख'। इनके अतिरिक्त अपने 'काव्य-विलास' ग्रन्थ में इन्होंने 'रसचन्द्रिका' ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है। 'जयसिंह प्रकाश' को छोड़कर शेष सभी काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ प्रतीत होते हैं। इनमें से केवल दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—'काव्यविलास' और 'व्यंग्यार्थकौमुदी'। इनके अतिरिक्त इन्होने 'भाषा भूषण' (जसवन्तसिंह कृत), 'रसराज' (मतिराम कृत), 'नखशिख' (बलभद्र कृत), और 'सतसई' (सम्भवतः बिहारी कृत)—इन ग्रंथों की टीकाएँ भी लिखी हैं।

व्यंग्यार्थकौमुदी ग्रन्थ की रचना संवत 1822 में हुई थी। इसके दो भाग हैं—मूलभाग और वृत्तिभाग। लगभग सम्पूर्ण मूलभाग में इन्होने भानुमिश्र के नायक-नायिका-भेदों को लक्ष्य मे रखकर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं और गद्यबद्ध वृत्ति-भाग में प्रत्येक उदाहरण से सम्बद्ध नायक-भेद अथवा नायिका-भेद का तथा शब्द शक्ति और अलंकार के भेद का निर्देश करके इन भेदो के सामान्य-परिचयात्मक लक्षण भी प्रस्तुत किये है। इस प्रकार वृत्तिभाग से समन्वित यह एक लक्षण ग्रन्थ है और इसके बिना मूलतः लक्ष्य-ग्रन्थ। निस्सन्देह यह अपने प्रकार का विचित्र प्रयोग है। सम्भव है ऐसे ग्रन्थ उस युग में अन्य भी लिखे गये हों। लगभग इसी आदर्श पर लिखित राव गुलाबसिंह-प्रणीत 'बृहद् व्यंग्यार्थकौमुदी' नामक प्रकाशित ग्रन्थ हमारे देखने में आया है। स्पष्ट है कि प्रतापसाहि का उक्त ग्रन्थ मूलतः ध्वनि तथा व्यंग्यार्थ का विवेचक ग्रंथ नहीं है, जैसाकि लगभग सभी हिन्दी-साहित्य के इतिहासकारों ने माना है।

'काव्य विलास' का निर्माण सं. 1886 में हुआ। यह विविध काव्यांगनिरूपक ग्रन्थ है। इसमें काव्यस्वरूप, शब्दशक्ति, ध्वनि, रस, गुणीभूत व्यंग्य, गुण और दोष का निरूपण है। इनमें नायक-नायिका-भेद और अलकारो का निरूपण नहीं है। इसमें यत्र-तत्र गद्य का भी प्रयोग किया गया है। इस ग्रन्थ के आरम्भ में ही काव्य-लक्षण-प्रसंग के अन्तर्गत भीषण भ्रान्तियों को देखकर ग्रन्थकार के प्रति अश्रद्धा उत्पन्न हो जाती है, पर आगे वस्तुस्थिति लगभग संभल जाती है। 'आगामी प्रकरणों में जो अशुद्ध विवेचन है, वे इतने भ्रामक नहीं है। उदाहरणार्थ शब्दशक्ति प्रकरण मे संकेतग्रह-प्रसंग भ्रमपूर्ण है। लक्षणमूला व्यंजना के भेद अशास्त्रीय हैं। लक्षण के भेदोपभेदों की गणना शिथिल है। दोष-प्रकरण मे च्युत संस्कृति, संदिग्ध, विरुद्ध-मतिकृत, अपुष्ट आदि दोषों के लक्षण अथवा उदाहरण अशुद्ध हैं। इसी प्रकार इसके गुण-प्रकरण भी नितान्त शिथिल एवं अव्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ मे नाममात्र के लिए भी कोई मौलिकता नहीं है। निस्सन्देह इस ग्रन्थ

मित शास्त्रसम्मत है, पर पद्य एवं गद्य-भाषा की असमर्थता इन्हें स्पष्ट करने में नितान्त अनुपयुक्त सिद्ध हुई है। ग्रन्थ के अधिकांश भाग में किसी संस्कृत के आचार्य का आधार न ग्रहण कर कुल पति का आधार ले लेना लेखक में आत्मविश्वास के अभाव का सूचक है। पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि काव्यशास्त्रीय विषय से ये अवगत अवश्य थे, क्योंकि इनके अधिकांश उदाहरण शास्त्र-सम्मत एवं विशुद्ध हैं। ये उदाहरण काव्य-गौष्ठव से भी पूर्ण हैं।"[21] इनके दो पद्य लीजिए—

मनिमय मन्दिर के आँगन अनोखी बाल,
बैठी गुरु लोगन में सोभा सरसाइ कै।
गरक गुलाब नीर, अरक उसीरन के,
रासे उन औरन सुगंध बगराइ कै।
कहूँ परताप पिय नैन के इसारतनि,
सारति जनाई मुख मृदु मुसक्याइ कै
बोली नहिं बोल कछु सुन्दरि सुजान रही,
पुण्डरीकसुमन सोहायी दिसराइ कै

(2)

तड़पे तड़िता चहुँ ओरन ते,
छिति छाइ समीरन की लहरें।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै,
गन मंजु मयूरन के कहरें।
इनकी करनी बरनी न परै,
मगरूर गुमानन सों गहरै।
घन ये नम-मंडल में छहरें,
घहरें कहूँ जाय, कहूँ ठहरें॥

ग्वाल कवि—

ग्वाल कवि मथुरा के निवासी सेवाराम वन्दीजन के पुत्र थे। इनका रचना काल सन् 1822 से 1861 तक माना जाता है। ग्वाल कवि ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जैसे "गोपी पचीसी" "कृष्णचन्द्र जू को नखशिख", "कवि-दर्पण", "दूषण दर्पण", "अलंकार-भ्रमभंजन", "रसिकानन्द" और 'रसरंग"। अन्तिम चार रीतिशास्त्र से सम्बन्धित हैं। कवि दर्पण तथा "दूषण दर्पण" में कवि शिक्षा और दोषों का तथा "अलंकार-भ्रमभंजन" में अलंकार का विवेचन हुआ है। "रसिकानन्द" और "रसरंग" में दो रस-ग्रंथ है। "रसिकानन्द" में नायिका नायक भेद, हाव-भाव और रस वर्णन है पर इसमे उदाहरणों का ही विशेष वर्णन आया है। ग्वाल के रस-सम्बन्धी विचार "रसरंग" में प्रकट हुए हैं। "रसरंग" 1847 ई.

की रचना है, इसमें दोहों मे रस रसांगों के लक्षण दिए गए हैं। ये लक्षण संक्षिप्त होते हुए भी स्पष्ट हैं। रसों का विवेचन बहुत से कवियों ने किया है, पर ग्वाल के "रसरंग में प्रकट विचार अपनी विशेषता रखते है। ग्वाल मन से पैदा हुए विकार को भाव मानते हैं—"*जनक जासु को मन कहैं जन्म जो कछु विकार। तासों कहिये* भाव है ......"ये भाव चार प्रकार के हैं-विभाव, स्थायी, अनुभाव और संचारी। आलम्बन को ग्वाल ने स्थायी भाव का कारण माना है। कारण का अर्थ इनके विचार से किसी की उपस्थिति को प्रकाश में लाने की बात है, जिससे यह पता लगता है कि अमुक वस्तु कहाँ थी। कुछ इसी प्रकार का लक्षण इनका अनुभाव का भी है "मन विकार उपजति जु है जिहि करि जानी जाय।" अत: विभाव और अनुभाव के लक्षणों में समानता है। हम यही कह सकते हैं कि विभाव की उत्पत्ति और विस्तार के कारण है और अनुभाव प्रबुद्ध एवं उद्दीप्त भाव के द्योतक हैं। ग्वाल ने प्रत्येक रस के अनुभावों का वर्णन अलग अलग किया है।

"देव की भाँति ग्वाल ने साहित्यिक भावो को अनुभावों के अन्तर्गत न मानकर संचारी भावों के अन्तर्गत माना है। संचारी भावों के दो भेद देव ने किए हैं—कायिका और मानसिक। ग्वाल ने उन्हे तनज और मनज कहा है। तनज सात्विक संचारी है और मनज अन्य। ग्वाल ने कहा है कि जो जिस रस का स्थायी भाव है, जब तक उसमें है तब स्थायी है, पर अपने रस को छोड़कर जब दूसरे में जाता है, तब व्यभिचारी हो जाता है। सात्विक भावों के प्रसंग में भी ग्वाल ने एक नवीनता रखी है। वह यह मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय से आठ सात्विक भाव प्रकट होते हैं। इस प्रकार प्रकट चालीस भावों में आठ सात्विक और शेष संचारी भाव हैं।"[22]

ग्वाल ने भी रस के दो भेद स्वीकार किए है—लौकिक और अलौकिक। उन्होंने रस को ब्रह्मानन्द के समान स्वीकार किया है। अलौकिक रस के तीन भेदों स्वापनिक, मनोरथिक और औपनयनिक—के ग्वाल ने नौ भेद माने हैं जो नवरस हैं। देव ने इन तीन को अलौकिक माना है और लौकिक रस के नव भेद प्रसिद्ध रस माने है। दोनों की धारणाओं में यह अन्तर है। ग्वाल की धारणा "रस तरंगिणी" के अनुसार है। देव की धारणा अपनी है और *अधिक यथार्थवादी है।* भानुदत्त ने लौकिक के छ: भेद माने है। शृंगार, नायिका-भेद आदि के वर्णन "रसरंग" में बड़े ही रोचक हैं और यह काव्य की दृष्टि से भी सुन्दर ग्रन्थ है। आठ उमंगों में यह रसग्रंथ समाप्त हुआ है।

तोषः—

तोष-निधि सिंगरौर (इलाहाबाद) के निवासी थे। इनके लिखित तीन ग्रंथों का उल्लेख मिलता है—"सुधानिधि" (1691), "नखशिख" और "विनय शतक।"

इन ग्रंथों में "सुधा-निधि" विशेष महत्व रखता है। इसमें रस वर्णन के माध्यम से राधाकृष्ण की विलास लीलाओं का वर्णन है। इसमें नवों रसों की विवेचना की गयी है। इसमें लक्षण दोहों में दिये गये हैं। उदाहरण कवित्त, सवैया, छप्पय आदि छन्दों में हैं। इनकी रचना का एक उदाहरण द्रष्टव्य है :

तो मन में रवि को प्रतिबिम्ब परे किरनै सो घनी सरसाती।
भीतर ही रहि जाति नहीं, अँखियाँ चकाचौंधि ह्वे जाति हैं राती।
बैठि रहौ बलि कोठरी में कहि तोष करौ बिनती बहु भांती।
सारसी नैन लै आरसी सो अंग काम कहा कढि धाम में जाती॥

रसलीन :—

रसलीन का वास्तविक नाम सैयद गुलाब नबी था। ये बिलग्राम जिला हरदोई के रहने वाले थे। इनके बनाये दो ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—"अंगदर्पण" और "रसप्रबोध"। प्रथम ग्रन्थ की रचना सं. 1794 में हुई और द्वितीय ग्रन्थ की सं. 1798 में। "अंगदर्पण" में अंगों का उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। निम्नलिखित प्रसिद्ध दोहा इसी ग्रन्थ का है—

अमिय हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि-झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

"रस प्रबोध" ग्रन्थ में नवरसों का निरूपण है। रीतिकालीन अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ का भी अधिकतर भाग शृंगार रस तथा उससे सम्बद्ध नायक-नायिका-भेद-प्रसंग को समर्पित हुआ है। इसके कुछेक स्थलों में केशव-प्रणीत "रसिकप्रिया" से भी सहायता ली गई है। इस ग्रन्थ में वर्णित उद्बुद्धा और उद्बोधितानामक नायिका-भेदों के लिए "शृंगार मंजरी" नामक संस्कृत-ग्रन्थ को साक्षात् अथवा असाक्षात् रूप में आधार माना जा सकता है। रसलीन की कविता का सरस काव्य-चमत्कार देखिए—

दीपक लौ झाँपति हुती ललन होति यह बात।
ताहि चलत अब फूल लौ विगसन लाग्यो गात॥
सजे श्वेत भूपन वसन जोन्ह माँहि न लखाय।
पट उघरत घन वदन द्युति चमकि द्वैज सी जाय॥
सौतिन मुख निसि-कमल भो पिय-चख भये चकोर।
गुरुजन मन-सागर भये लखि दुलहिन मुख ओर॥
तिन से सब-जोबन मिले भेद न जान्यो जात।
प्रात समै निसि-द्यौस के दोउ भाव दरसात॥
राधा-तन फूलन मिलो पातन हरि को गात।
नूपुर-ध्वनि खग-धुनि मिली भले बने सब सात॥

बेनीप्रवीन :—

बेनीप्रवीन लखनऊ के निवासी थे। "शृंगार भूषण", "नवरस-तरंग (सं 1784) नामक ग्रन्थों का निर्माण किया था। नवरस तरंग इनका सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ है। इसका वर्ण्यविषय रस और नायिका-भेद है। "नवरस तरंग" में वंदना और आश्रयदाता के परिचय के बाद रस-लक्षण, जो सामान्य धारणा को ही व्यक्त करता है। शृंगार और नायिका-भेद उसके बाद है। अनेक आधारों पर नायिका-भेद के पश्चात् नायक-भेद और फिर उद्दीपन, अनुभाव और संचारी भावों का वर्णन है। शृंगारेतर रसों का अन्त में संक्षिप्त वर्णन है, फिर भी लक्षण स्पष्ट और पूर्ण तथा उदाहरण अच्छे हैं। लक्षणों में रसों के वर्ण, स्थायी, संचारी, आलम्बन आदि का भी संकेत किया है। कुछ रसों का शृंगार-मिश्रित वर्णन भी है, जैसे शृंगार-मिश्रित करुण रस, शृंगार-मिश्रित वीर रस। युद्धवीर का नाम इन्होंने रनवीर दिया है। बीच-बीच मे इन्होंने "शृंगार भूषण" ग्रन्थ से भी उदाहरण दिए हैं। इनका हाव तथा रस वर्णन "नाट्यशास्त्र" के अनुसार है।

उजियारे :—

विवेचन-शैली और विवेचन-आधार के वैशिष्ट्य के कारण इस काल के सर्वरस-विवेचको में कवि उजियारे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके विषय में ज्ञातव्य है कि ये वृन्दावन-निवासी मना्ढ्य ब्राह्मण नवलशाह के पुत्र थे तथा सन् 1780 के आसपास विद्यमान थे। इनके द्वारा लिखे हुए "जुगल रस-प्रकाश" और "रसचन्द्रिका" नामक दो ग्रन्थ उपलब्ध होते है जिनकी रचना इन्होंने सन् 1780 में क्रमशः हाथरस-निवासी चैनसुख के पुत्र जुगलकिशोर दीवान एवं जयपुर निवासी छाजूराम वैश्य के सुपुत्र दौलतराम के लिए की। ये दोनों ग्रन्थ शीर्षक और कलेवर की दृष्टि से यद्यपि भिन्न हैं, तथापि दोनों का विवेच्य-विषय एक ही है—"रसचन्द्रिका" के 16 और "जुगल रस प्रकाश" के 12 प्रकाशों में रस-सामग्री और विभिन्न रसों का विवेचन ही विस्तारपूर्वक नहीं किया गया है, दोनों में छन्द भी लगभग एक से हैं, अन्तर केवल इतना ही है कि "रस चन्द्रिका" के अन्त मे रसरोध शीर्षक से रस-विरोध विषयक चर्चा "जुगल रस प्रकाश" की तुलना में अधिक है। इनसे विवेचन का आधार मूलतः भरत का "नाट्यशास्त्र" ही रहा है। इसके कवित्व की जानकारी हेतु ये दो छन्द ही पर्याप्त हैं :—

1— बिसरि गई है लरिकाई की सुघाई बानि
आई अदनाई तरुनाई की झकोर सौं।
अंगनि अनंग की उमग उमगन लागी
सुमगन लागी हो न कढ़ि छढ़ि छोर सौं॥

उजियारे प्यारे के सनेह पहचारिनि सों
पूरि राखे श्रवन सुगारे ग्रोर छोर सों।
मंद मंद बिहंसनि मैं तोलि तोलि
मोल बिन लीने लाल लोचन की कोर सों।।

2— गेह सनेह कथानि कहै गुरु लोग की लाज हिये हटकी है।
ऊँचे ग्रटानि चढ़ै उतरै सु करै मनु कोटि कला नटकी है।।
खेलिबे कौं मिसु कै उजियारे पियारे के मौन मटू मटकी है।
ग्वालिनि की वह डीठि बिसाल गुपाल के गालनि पै ग्रटकी है।।

रामसिंह :—

इस काल के ग्रलंकार ग्रोर रस-निरूपण ग्राचार्यों में महाराज रामसिंह का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके विषय में केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि ये नरवरगढ़ के राजा छत्रसिंह के पुत्र थे। इन्होंने ग्रनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें जुगलविलास, ग्रलंकारदर्पण, रसशिरोमणि ग्रोर रसनिवास प्रसिद्ध हैं। इनमें "जुगल विलास" देव के "ग्रष्टयाम" के समान नायक-नायिका की दिनचर्या के वर्णन का ग्रन्थ है। "ग्रलंकार दर्पण" के भीतर "कुलवयानन्द" के ग्राधार पर ग्रलंकार-विवेचन किया गया है। रसशिरोमणि "रसमंजरी" के ग्राधार पर रचा गया नायक-नायिका भेद ग्रोर शृंगार रस विवेचन सम्बन्धी ग्रंथ है, जबकि "रसनिवास" में रसमंजरी, रसतरंगिणी, साहित्यदर्पण, रसिकप्रिया ग्रादि के ग्राधार पर नायक-नायिका-भेद के ग्रतिरिक्त स्थायी भाव, ग्रनुभव, सात्विक भाव, संचारी भाव ग्रादि के रूप में रसावयवों ग्रोर विभिन्न रसों के वर्णन के साथ रसदृष्टि, रस-भाव-सम्बन्ध, रस-भाव-ग्रलंकार-सम्बन्ध, रस-विरोध, रसाभास ग्रादि का मनोयोगपूर्वक विवेचन किया गया है।

"जहाँ तक महाराज रामसिंह के कवित्व का प्रश्न है, उसकी दृष्टि से ये इस काल के मतिराम—जैसे प्रथम श्रेणी के कवियों में बिना किसी संकोच के परिगणित किए जा सकते हैं। कल्पना की ऊँची उड़ान ने इनके बिम्बों को कुछ ऐसावैशिष्ट्य प्रदान किया है कि उससे इस रससिद्ध कवि की रसवादी दृष्टि सहज ही प्रमाणित हो जाती है। इधर भाषा के स्वच्छ एवं संगीतात्मक प्रयोग ने इनके बिम्बों की ग्राकर्षण-क्षमता को द्विगुणित कर दिया है। वास्तव में ये ग्राचार्य-कर्म के समान ही ग्रपने कवि-कर्म में भी पूर्णतः सफल है।"[23] उदाहरणार्थ, इनके ये छन्द प्रस्तुत हैं :—

1— तिय बैठी सहेलिन बीच हुती मनमोहन को मन ध्यान धरै।
पिय ग्राइ जहाँ हँसि बाँह गही सुख पाइ करै मुख नाहि ररै।।
सखियानि दै सैनि बिदा करिकै हरि ग्रंक मयंकमुखी को भरै।
सरकाति सी ग्रावति नीरे खरे नखरेन सों लाज कै लागे गरे।।

2— पट दाबे पाटी गहे, सोवति तिय पिय संग ।
मृग विसाल नैननि लखैं, रहति समेटे ग्रंग ।।

3— लाल ग्रकुलाइ बिन बाल के विलोकें योलि
चले गए ग्राइ करि सदन के तीर सों ।
सुनिकैं पियारी चढ़ि तुरत ग्रटारी नाहिं
देखे मनमोहन को लोचन ग्रधीर सों ।।

चन्द्रशेखर वाजपेयी :—

चन्द्रशेखर वाजपेयी का जन्म सन् 1798 ई. में उत्तर प्रदेश के जिला फतहपुर के मोजाबाद ग्राम में वाजपेयी ब्राह्मण परिवार मे हुग्रा । इन्होंने ग्रपने जीवन काल में 8 ग्रंथ लिखे—"हम्मीर हठ", "नखशिख", "रसिकविनोद", "वृन्दावन शतक", "गुरुपंचाशिका", "ज्योतिष का ताजक", "माधवी वसंत", "हरिभक्त विलास", ग्रौर "राजनीतिक-विषयक ग्रंथ" । इनमे "नखशिख" ग्रौर "रसिकविनोद रीति-ग्रन्थ है—एक मे नायिका के नखशिख का वर्णन है तो दूसरे में नायक-नायिका-भेद ग्रौर नवरस-निरूपण भानुदत्त मिश्र की "रसमंजरी" ग्रौर "रसतरंगिणी" के ग्राधार पर है । "हम्मीर हठ" वीरकाव्य है जिसमें इन्होंने भारतीय इतिहास के गौरव महाराज हम्मीददेव ग्रौर दिल्ली के बादशाह ग्रलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन पटियाला नरेश महाराज नरेन्द्रसिंह की ग्राज्ञा से सन् 1845 ई. में "हम्मीर हठ" नामक चित्रावली के ग्राधार पर किया है ।

काव्य में विषय-वर्णन यद्यपि ग्रादिकालीन कवियों के काव्यों की तरह परिगणनात्मक एवं वस्तुपरक है फिर भी रीतिकाव्य की चमत्कार-प्रधानशैली का सन्निवेश भी पूरी स्वच्छन्दता के साथ उसमे हुग्रा है । गिने-चुने शब्दों मे श्रृंगार-रस का वर्णन किया गया है । वीर-रस सम्बन्धी वर्णन रासो जैसे शैली में लिखे गये हैं, कल्पना-वैभव जन्य समृद्ध विम्ब-योजना इसके वर्णनों की विशेषता है, शृंगार ग्रौर वीररस के मिले-जुले छन्द इसके काव्यत्व को प्रकट करते हैं ।

कृष्णभट्ट देव :—

शृंगार रस को सर्वोपरि मानकर उसका विस्तार के साथ वर्णन करने वाले ग्राचार्यों में कृष्णभट्ट देव ऋषि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है । इनका जन्म सन् 1681 में तमिलनाडु के तैलंग ब्राह्मण परिवार में हुग्रा था । इनकी मृत्यु सन् 1761 में हुई । इन्होंने संस्कृत ग्रौर हिन्दी में कुल मिलाकर चौंतीस ग्रन्थों की रचना की । इसके प्रसिद्ध ग्रन्थों में "शृंगार रसमाधुरी", "ग्रलंकार कलानिधि", विशेष प्रसिद्ध हैं । इनके रस-विवेचन पर "रसमंजरी" ग्रौर "रस-तरंगिणी" के ग्रतिरिक्त "हिततरंगिणी", "रसिकप्रिया" ग्रौर "सुधानिधि" का स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है । इनकी रचनाएँ पर्याप्त कवित्वपूर्ण हैं ।

कालिदास त्रिवेदी :—

कालिदास त्रिवेदी अन्तर्वेद के रहने वाले थे और औरंगजेब की सेवा में बीजापुर की लड़ाई में गये थे। इन्होंने हजारा, राधामाधवबुधमिलन विनोद और "वारवधूविनोद" आदि ग्रंथों की रचना की है। इनका "वारवधूविनोद" नायिका भेद-विवेचन-विषयक ग्रन्थ विशेष प्रसिद्ध है। यह पांच प्रभागों में बंटा हुआ है। अलग-अलग प्रभाग के अन्तर्गत अलग-अलग विषयों का विवेचन मिलता है। इनके काव्य में बिम्ब, भाषा और छन्दयोजना तीनों का समन्वित रूप दिखलाई देता है। "वारवधूविनोद" का एक अंश देखिए—

परिरंभ विलक्षण भनित विलक्षण कोटिक लक्षण पूंजि करै।
दंतन दमके कुंजित जमके तन तममें सुख भूरि भरै ॥
दृग ललित ललौहैं तकि तिरछौहे रस भरि भौंहैं भूरि करै।
कटितट गहि मसकै भरि-भरि ससकै मनमय कसकै दूरि करै ॥

रसिक सुमति :—

अलंकार-निरूपकों में रसिक सुमति का विशेष महत्त्व है। ये आगरा निवासी ईश्वरदास उपाध्याय के पुत्र थे। ये उसी टोले में रहते थे जिसमें कुलपति मिश्र रहा करते थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ "अलंकार चन्द्रोदय" मिलता है। इस ग्रंथ में 187 दोहों के अन्तर्गत अलंकार का विवेचन किया गया है। विवेचन का आधार "कुवलयानन्द" है तथापि शब्दालंकारों के अतिरिक्त इतर अलंकारों के विवेचन के लिए "चन्द्रालोक" और "भाषाभूषण" जैसे ग्रन्थों से सहायता ली गयी है। डॉ. महेन्द्रकुमार के अनुसार रसिक सुमति अपने रीति निरूपण में जसवन्तसिंह की टक्कर के आचार्य हैं।[24]

दूलह :—

रीति-निरूपण की संक्षेप शैली में नवीन प्रयोग करने वालों में कवि दूलह का नाम विशेष प्रसिद्ध है। इनके विषय में इतना ही पता लगता है कि ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र तथा रस चन्द्रोदयकार उदयनाथ कवीन्द्र के पुत्र थे। इनकी रचनाओं में कविकुलकण्ठाभरण नामक अलंकार-विषयक ग्रन्थ तथा कतिपय स्फुट छन्द ही आज उपलब्ध होते हैं। इनका कविता काल सन् 1743 से 1768 ई. के बीच स्वीकार किया गया है।

सेवादास :—

काव्यांग-निरूपण की व्यापक प्रवृत्ति केवल उन्हीं कवियों में नहीं देखी जाती जो राजाओं के आश्रय में रहते थे, वल्कि उन कवियों में भी मिलती है जो वैष्णव भक्त थे। सेवादास ऐसे ही कवि थे। इन्होंने "गीता महात्म्य", "अलबेलेलाल जू को नखशिख" जैसी भक्ति-सम्बन्धी ग्रन्थों के अलावा "रसदर्पण"

ग्रौर "रघुनाथ ग्रलंकार" नामक रीति-ग्रंथ भी लिखे थे। रसदर्पण में किया गया विवेचन रसमंजरी ग्रौर रसतरंगिणी के ग्राधार पर है। इस ग्रन्थ के सभी उदाहरण सीता-राम तथा राधा-कृष्ण सम्बन्धी हैं। रघुनाथ ग्रलकार में ग्रलंकारों का निरूपण हुग्रा है। कुल मिलाकर 201 छन्दों मे समाप्त होने वाला यह ग्रन्थ 70 ग्रर्थालंकारों का विवेचन प्रस्तुत करता है ग्रौर शेष में मंगलाचरण, ग्रन्थकार का कथन ग्रौर गुरु तथा इष्ट की भक्ति विषयक छन्द हैं। कवित्व की दृष्टि से इनके ग्रन्थ साधारण ही कहे जायेंगे। इनके काव्य में न तो भक्त-कवियों जैसी तन्मयता है ग्रौर न रीतिकालीन कवियों जैसे संयत् काव्य-शिल्प का निर्वाह ही हो पाया है।

वृन्द :—

रीतिकाल के एक ग्रत्यन्त महत्वपूर्ण कवि वृन्द का वास्तविक नाम वृन्दावनदास था। यद्यपि इनके पूर्वज बीकानेर के निवासी थे किन्तु इनके पिता श्री रूपजी मेड़ते (जोधपुर राज्य के ग्रन्तर्गत) में जाकर विकास करने लगे थे ग्रौर इनका जन्म वही पर सन् 1643 मे हुग्रा। इनकी माता का नाम कौशल्या था तथा पत्नी का नवरंगदे। दस वर्ष की ग्रायु में ही इन्हें ग्रध्ययन के निमित्त काशी भेजा गया। काशी में रहकर इन्होंने तारा नामक पंडित से वेदान्त, साहित्य, व्याकरण, दर्शन, गणित ग्रादि विषयों की शिक्षा ग्रहण की ग्रौर काव्य-रचना सीखी। जब ये वापिस लौटकर मेड़ता ग्राए तब जोधपुर नरेश महाराजा जसवन्तसिंह ने इनका बहुत सम्मान किया ग्रौर उन्ही के प्रयत्न से ग्रौरंगजेब के वजीर नवाब मुहम्मद खा के माध्यम से शाही दरबार में प्रविष्ट हुए। कहा जाता है कि ग्रौरंगजेब ने इन्हें "पयोनिधि पैर्‌यो चाहे मिसिरी की पुतरी" नामक समस्या पूर्ति के लिए दी। इन्होने तुरन्त ऐसी मर्मस्पर्शी पूर्ति की कि ग्रौरंगजेब वाह-वाह कर उठा ग्रौर उसने इन्हें ग्रपने पौत्र ग्रजी मुशशान का शिक्षक नियुक्त कर दिया। जब ग्रजी मुशशान बंगाल का शासक बना तब वृन्द भी उसके साथ गए ग्रौर उसके ग्राग्रह से ग्रनेक रचनाएँ लिखीं। लगभग सन् 1707 के ग्रास-पास किशनगढ़ के राजा राजसिंह ने इन्हें ग्रजी मुशशान से माग लिया ग्रौर वहीं सन् 1723 में इन्होंने ग्रपनी देह लीला समाप्त की।

हिन्दी के ग्रन्य ग्रनेक मध्यकालीन कवियों के समान वृन्द प्रणीत रचनाग्रों के सम्बन्ध में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कतिपय ग्रालोचक इन्हें सोलह रचनाग्रों का प्रणेता मानते है तो कुछ मात्र ग्यारह रचनाग्रों का। वैसे इनकी ये ग्यारह रचनाएँ ग्रत्यन्त प्रसिद्ध हैं—समेत शिखर छन्द, भाव पंचासिका, शृंगार शिक्षा, पवन पचीसी, हितोपदेश संधि, वचनिका, सत्य स्वरूप, हितोपदेशाष्टक, भारत-कथा, वृन्द सतसई तथा यमक सतसई। यदि इन सभी रचनाग्रों का ग्रध्ययन किया जाए तो

यह ज्ञात होता है कि इन्होंने भक्ति नीति, शृंगार आदि विविध प्रकार के सरस साहित्य की सृष्टि की है, किन्तु इतना होने पर भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि इनकी प्रसिद्धि मुख्यतः एक नीतिकार के रूप में है। वृन्द सतसई इनकी सर्वाधिक लोकप्रिय रचना है तथा नीति साहित्य का शृंगार मानी जाती है। मर्मस्पर्शी उपमानों तथा दृष्टांतों के माध्यम से उन्होंने मानव-जीवन के विविध पक्षों पर ऐसी अनुपम उक्तियां कही हैं कि वे आज भी लोक-जीवन का कण्ठहार बनी हुई हैं, एक उदाहरण देखिए—

फीकी पै नीकी लगै, कहिए समय विचारि।
सबको मन हरषित करै, ज्यों विवाह में गारि॥

घनानन्द :—

रीतिकालीन हिन्दी कविता के इतिहास में घनानंद की गणना स्वच्छन्द काव्य धारा अथवा रीतिमुक्त काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि के रूप मे की जाती है। प्राचीन एवं मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के अधिकांश कवियों के वास्तविक नाम, जन्मकाल आदि के सम्बन्ध में पर्याप्त विवाद रहा है। घनानन्द भी इसके अपवाद नहीं हैं। पर्याप्त समय तक इनका जन्म सन् 1689 ई. माना जाता रहा किन्तु पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा किये गये अनुसंधानों के फलस्वरूप अब इनका जन्मकाल सन् 1673 माना जाता है। ये जाति के कायस्थ थे तथा मुगल सम्राट मुहम्मद शाह रंगीले के दिल्ली दरबार में मुंशी के पद पर कार्य करते थे। किंवदन्ती है कि बादशाह के दरबार में सुजान नामक किसी वेश्या को बहुत सम्मान प्राप्त था। दरबार में रहने के कारण इनका उससे सम्पर्क होना स्वाभाविक ही था। यह उसके रूप-सौंदर्य तथा व्यवहार पर अत्यन्त मुग्ध होकर उससे प्रेम करने लगे। सुजान तथा घनानन्द के इस प्रेम-सम्बन्ध को देखकर बहुत से दरबारी ईर्ष्या करने लगे और किसी न किसी प्रकार राजा से दण्ड दिलाने की योजनाएँ बनाने लगे। एक दिन किसी दरबारी ने बादशाह से कहा कि घनानन्द संगीत-विद्या में अत्यन्त निष्णात है अतः किसी दिन उसे गाना सुनाने का आग्रह अवश्य किया जाए। यद्यपि घनानन्द विभिन्न राग-रागिनियों तथा वाद्य-यन्त्रों के अच्छे गायक एवं वादक थे किन्तु फिर भी बादशाह के द्वारा आग्रह किये जाने पर संकोचवश मना करते रहे। ईर्ष्यालु दरबारियों ने इस स्वाभाविक संकोच का फायदा उठाते हुए बादशाह से कहा कि घनानन्द सुजान से प्रेम करते हैं और यदि सुजान उनसे गाने का अनुरोध करे तो वे तुरंत गा सकते है। बादशाह ने उसी समय सुजान को बुलाने का आदेश दिया और घनानन्द ने उसके द्वारा आग्रह किए जाने पर अपनी संगीत-कला से पूरी राजसभा को विस्मय-विमुग्ध कर दिया। यह देखकर बादशाह ने सोचा कि

घनानन्द ने उसका आदेश न मानकर एक नर्तकी के आग्रह से गाना सुनाकर उसका अपमान किया है और परिणामतः घनानन्द को देश-निकला दे दिया गया। घनानन्द ने इस दण्ड को स्वीकार करते हुए सुजान से भी अपने साथ चलने का आग्रह किया लेकिन सुजान ने साथ आने से मना कर दिया। इससे घनानन्द के हृदय को बहुत ठेस लगी। वे सांसारिक मोह को छोड़कर वृन्दावन चले गये और निम्बार्क भक्ति-सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए।

घनानन्द के काव्य का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि इनकी रचनाओं को दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—(क) लौकिक शृंगार परक रचनाएँ तथा (ग) भक्तिपरक रचनाएँ। पहले प्रकार की रचना कवित्त-सवैयों में रची गयी हैं तथा दूसरे प्रकार की रचनाएँ पदों और दोहे-चौपाइयों में। इनके द्वारा रचित कवित्त-सवैयों की संख्या 752 मानी जाती है। पदों की 1057 तथा दोहे-चौपाइयों की 2354। यों तो इनकी रचनाओं के अनेक संकलन प्रकाशित हो चुके हैं किन्तु पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र द्वारा संपादित "घनआनन्द" शीर्षक ग्रन्थ सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

घनानन्द की महत्ता मात्र इसलिए नहीं है कि इनकी रचनाओं का परिणाम बहुत अधिक है अपितु वह तो इनके अनूठे काव्य-वैभव में निहित है। वस्तुतः घनानन्द ने विषय-वैविध्य के स्थान पर भावों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों के हृदय-स्पर्शी चित्रों को उकेरने में ही अपनी कल्पना शक्ति का उपयोग किया है। प्रेमी के हृदय में स्थित अभिलाषा, हर्ष-विषाद, रीझ-खीझ आदि विविध भावों को ऋजु-वक्र शैली तथा लाक्षणिक भाषा के माध्यम से इस प्रकार रूपायित किया गया है कि प्रेम की टीस और पीड़ा साकार हो उठी है। भाव-संपदा के क्षेत्र में फारसी काव्य से पर्याप्त प्रभावित होने पर भी उन्होंने अपनी भाषा में उनका बेमेल मिश्रण नहीं होने दिया है अपितु व्याकरण सम्मत, लाक्षणिक, व्यंजना प्रधान एव ध्वन्यात्मक शब्दों के प्रयोग से रीतिकालीन काव्य-भाषा को सर्वथा नूतन आयाम देने का सफल प्रयत्न किया है। उनकी इन्हीं विशेषताओं के कारण आलोचक-प्रवर आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को भी उनके भाषा-प्रयोग की दाद देनी पड़ी है। समग्रतः मुक्तक-काव्य के प्रणेता घनानन्द हिन्दी के समर्थ और सहृदय कवि के रूप मे प्रतिष्ठित होने के सही अधिकारी हैं।

ठाकुर :—

हिन्दी साहित्य में कई ठाकुर कवियों का उल्लेख मिलता है। किन्तु जो ठाकुर रीतिमुक्त काव्यधारा के कवि के रूप में विख्यात हैं उनका जन्म 1823 ई. मे बुन्देलखण्ड मे हुआ था। इनकी रचनाओ का एक संग्रह ठाकुर ठसक के नाम से प्रकाशित हुआ है। इनके काव्य का प्रमुख विषय प्रेम भावना है। इनके प्रेम

पैर फ़ारसी काव्य में वर्णित प्रेम का प्रभाव अधिक दिखलाई देता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि "ठाकुर बहुत सच्ची उमंग के कवि थे। उनमें कृत्रिमता का लेश नहीं है। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडम्बर है, न कल्पना की ऊँची उड़ान, न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष है। भावों को ठाकुर ने स्वाभाविक भाषा में उतारा है। ब्रजभाषा की शृंगारी कविता प्रायः स्त्री पात्रों के ही मुख की वाणी होती है, अतः स्थान-स्थान पर ठाकुर ने लोकोक्तियों का और मार्मिक उक्तियों का स्वाभाविक और आकर्षित विधान किया है।"[25]

ठाकुर स्वभाव से स्पष्टवादी, विरोधियों के प्रति उग्र और सहयोगियों के प्रति सहृदय एवं भावुक जीव थे। हिम्मत बहादुर द्वारा कटुवचन कहे जाने पर उन्होंने उनके प्रतिवाद में जो कवित्त तलवार खींचकर पढ़ा था, वह उनकी आन्तरिक प्रकृति को पूर्णतया व्यक्त करता है।

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दानजुद्ध जुरिबे में नेकु जो न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के विसुद्ध है सनेही साचे उर के।
ठाकुर कहत हम वैरिन बेवकूफन के,
जामिल दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज,
हम कविराज हैं पैं चाकर चतुर के॥

"सवैया छन्द में उनकी सहज गति थी। भाषा-शैली अकृत्रिम तथा ओजस्वितापूर्ण होते हुए भी कोमल भावों को अभिव्यंजित करने में सक्षम है। लोकोक्तियां तथा लोक-प्रचलित शब्दों का प्रयोग उन्होंने स्थान-स्थान पर उपयुक्त ढंग से किया है। जीवन की सरस अनुभूतियों का अंकन ठाकुर के काव्य की प्रमुख विशेषता है। कवि-कर्म के लिए वे उत्तरदायित्व और कौशल की आवश्यकता समझते थे, जो उनके "लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है" वाले छन्द से स्पष्ट विदित होता है।"[26]

बोधा :—

बोधा जिला बांदा के राजापुर स्थान के रहने वाले थे। बोधा [illegible] राजा पन्ना के दरबार मे रहा करते थे। इनका काव्यकाल संवद् 1830 से 1850 का माना जाता है। इनकी रचनाओं में रीति कवियों से अलग प्रेमभाव का उल्लास मिलता है। इन्होंने कोई रीति ग्रंथ नहीं लिखा है, जो भी लिखा है अपनी मस्ती के अनुसार ही लिखा है। इसमे कोई सन्देह नहीं कि बोधा भावुक

और रसिक कवि थे। इनकी भाषा में व्याकरण विषयक त्रुटियां मिलती है किन्तु फिर भी उसमें मुहावरेदानी मिलती है वह इनकी भाषा को विशिष्टता प्रदान करती है। बोधा के प्रेम पर सूफियों की प्रेम पद्धति और वियोग भावना का गहरा प्रभाव दिखाई देता है। स्वर्गीय रामधारीसिंह दिनकर ने इनके सम्बन्ध में लिखा है कि ये घनानन्द के ही गुट का संस्करण है।

"बोधा का व्यक्तित्व कई कारणों से रीतिकाल के अन्तिम कवियों में अपना प्रमुख महत्त्व रखता है। उनमें रीति-परम्परा के प्रेम मार्गी भावतत्व का विचित्र समन्वय मिलता है। अधिकता प्रेमोन्माद की ही है, जो इन की दोनों रचनाओं से प्रकट हैं। "विरहवारीश" तो बहुत कुछ सूफी शैली में और सूफी प्रभाव के अन्तर्गत रचा गया है। उसकी विषय-वस्तु "माधवानल कामकन्दला" की सुप्रसिद्ध प्रेमकथा है। उनकी दूसरी रचना "इश्कनामा" भी "प्रेम की पीर" मे डूबे हुए स्फुट छन्दो का संग्रह है। रीतिग्रन्थ बोधा ने कोई भी नहीं लिखा केवल छन्दशैली तथा वातावरण रीतिकालीन है।"[27] बोधा अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होने बहुत से पद्य कहे है। "प्रेम की पीर" की व्यजना भी इन्होने बड़ी मर्मस्पर्शिनी युक्ति से की है। यत्र तत्र व्याकरण दोष रहने पर भी भाषा इनकी चलती और मुहावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव मे फक्कड़पन भी कम नही था। "नेजे", "कटारी" और "कुरबान" वाली बाजारू ढंग की रचना भी इन्होने कहीं-कहीं की है। जो कुछ हो, ये भावुक और रसज्ञ कवि थे, इसमें कोई संदेह नही।[28] उदाहरणार्थ दो पद देखिए—

1—अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दे आवनो है।
सुई वेह के द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है॥

2—"कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो" यह धीरज ही में धरैबो करै।
उर तें कढि आवे, गरे तें फिर, मन की मन ही में सिरैबो करै।
कवि बोधा न चाँद सरी कबहूँ, नितही हरवा सो हिरैबो करै।
सहते ही बनै कहते न बनै मन ही मन पीर पिरैबो करै॥

आलम:—

रीतिमुक्त काव्य के प्रमुख कवि के रूप में आलम का नाम लिया जाता है। इनका रचनाकाल सं. 1712 वि. के लगभग माना जाता है। ये आलम जाति के ब्राह्मण थे किन्तु शेख नाम की रंगरेजिन से अनन्त प्रेम करते थे, उसी से उन्होंने विवाह भी किया और बाद में वे मुसलमान हो गये। इनकी कविताओं का संग्रह "आलम केलि" नाम से निकला है। आचार्य शुक्ल ने इनके सम्बन्ध

लिखा है कि "आलम प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय तत्व की प्रधानता है। प्रेम की पीर इनके एक-एक वाक्य में भरी हुई है। उत्प्रेक्षाएं भी उन्होंने बड़ी अनूठी काम की ली हैं। शब्द वैचित्र्य और अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। श्रृंगार की ऐसी उन्मादमयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुनने वाले तन्मय हो जाते हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना रसखान और घनानन्द की कोटि में होनी चाहिए।"[29]

डॉ. जगदीश गुप्त ने समीक्षकों के इस मत पर आपत्ति की है कि रीतिमुक्त कवियों में आलम का स्थान सर्वोच्च है। उन्होंने आलम को कवित्त-सवैया की पद्धति का प्रवर्तक भी नहीं माना है। उन्होंने बहुत सोच-विचार कर यह कहा है कि नयी सामग्री के उपलब्ध हो जाने पर आलम के विषय में पुनर्मूल्यांकन अपेक्षित है। आलम की तीन कृतियाँ प्रामाणिक मानी गयी हैं। माधवानल काम-कंदला, श्यामसनेही और आलम के कवित्त। कुछ लोगों ने उनकी एक चौथी कृति "सुदामा चरित का भी उल्लेख किया है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो पाई है। वास्तव में आलम के कवित्त ही रीतिकाव्य की दृष्टि से कवि की मुख्य रचना है। इसकी विविध हस्तलिखित प्रतियाँ नाथद्वारा और कांकरोली आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं। "इस संग्रह के मुक्तकों में निश्चय ही उनके अनेक मुक्तक ऐसे हैं जिनमें भावात्मक तीव्रता कथन की अतिशयता के साथ मिलकर सूफी-काव्य की प्रकृति का आभास देती है। यह तत्त्व ब्रजभाषा के रीतिमुक्त अन्य प्रेमी कवियों मे भी उपलब्ध होता है, पर उसमें एक विचित्र प्रकार की उत्सर्ग भावना एवं तन्मयता की उपलब्धि भी होती है जिसे आलम के कवि व्यक्तित्व की अपनी छाया कहा जा सकता है।[30]

द्विजदेव :—

रीतिमुक्त काव्यधारा के अन्तिम प्रतिनिधि कवि द्विजदेव हैं। इनका पूरा नाम महाराज मानसिंह द्विजदेव है। इनका जन्म सन् 1820 में और मृत्यु सन् 1871 में हुई। इनके चार ग्रंथ उपलब्ध हैं—श्रृंगारलतिका, श्रृंगारबत्तीसी, श्रृंगारचालीसी और रसकुसुमाकर। श्रृंगारलतिका और श्रृंगारबत्तीसी को ही समीक्षकों ने स्वतन्त्र काव्य-रचना माना है। इनकी कविता में प्रकृति-वर्णन की स्वच्छन्दता, संयोग-श्रृंगार में भाव-प्रधान रीतिबद्धता और वियोग श्रृंगार में रागात्मकता दिखलाई देती है। श्रृंगारिक छन्दों के भीतर इन्होंने रूप-सौंदर्य, अनुभाव, सम्भोग और काम-दशाओं आदि का वर्णन किया है। कवि की भावुकता श्रृंगार-वर्णन में देखी जा सकती है। अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से द्विजदेव का काव्य भावात्मक है। "इनके काव्य-बिम्बों की रेखाएं अपने आप में सूक्ष्म, तरल और उलझाव रहित होने के कारण अनुभूति को ...

कारण इनकी कुण्डलियाँ गाँव-गाँव में प्रसिद्ध हैं। इसका कारण यह है कि अलंकार, शब्द-शक्ति, अप्रस्तुत योजना आदि के व्यूह से निकलकर उन्होंने सीधी-सादी भाषा में लोक-व्यवहार का कथन किया है। इनके रचे ठेठ पंजाबी के कुण्डलिये भी मिलते हैं। इनकी रचना की एक बानगी देखिए—

पानी बाढ़ो नाव में घर में बाढ़ो दाम।
दोनो हाथ उलीचिये यही सियानों काम।।
यही सयानों काम राम को सुमिरन कीजै।
पर स्वारथ के काज सीस आगे धर दीजै।।
कहि गिरधर कविराय बड़ेन की याही बानी।
चलिए चाल सुचाल राखिए अपनी पानी।।

दीनदयाल गिरि :—

दीनदयाल गिरि इस काल के दूसरे महत्वपूर्ण नीति-कवि हैं जो गिरिधर कविराय के समान ही प्रसिद्ध हैं। इनके विषय में केवल इतना ही ज्ञातव्य है कि ये दसनामी शैव सन्यासी तथा कुशागिरि के शिष्य थे। काशी से इन्हें अत्यन्त प्रेम था जहां सन् 1865 ई में इनका देहावसान हुआ। इनके द्वारा रचे गये ये पांच ग्रन्थ उपलब्ध होते है—अनुरागबाग, दृष्टान्ततरंगिणी, अन्योक्तिमाला, वैराग्यदिनेश तथा अन्योक्तिकल्पद्रुम। इनमें अन्योक्तिकल्पद्रुम अन्योक्तिमाला का ही परिवर्द्धित रूप है। दीनदयाल गिरि की सभी रचनाओं को देखने से यह स्पष्ट होता है कि *यद्यपि उन्होंने शृंगारमूलक एवं चमत्कार-प्रधान रचनायें ही की हैं,* तथापि उनके काव्य का मुख्य विषय वैराग्य और नीति है। इनमे भी उनका नीतिकवि-रूप अधिक मुखर है। इन नीति रचनाओं में—चाहे वे दृष्टांतमूलक हों अथवा अन्योक्ति-परक, कवि ने अपनी बात कहने लिए सामान्यतः अप्रस्तुतों का आश्रय लिया है।

'दीनदयाल गिरि की नैतिक दृष्टि ऐसे विरक्त संन्यासी की दृष्टि है जो संसार की सभी समस्याओं का समाधान सद्गुणों के विकास और दुर्गुणों के तिरस्कार के साथ माया-मोह को त्याग और ईश्वरनराधन मे खोजता है। यही कारण है कि उसकी वाणी में न कटुता दिखाई देती है और *न किसी प्रकार का आक्रोश*—अन्योक्तियों और दृष्टांतों के प्रयोग ने एतत्सम्बन्धी सम्भावना के लिए भी अवकाश समाप्त कर दिया है। अन्योक्तियों के विषय प्रायः पशु-पक्षी और वन-विटप ही रहे हैं जिससे मानवीय राग-द्वेष के स्पर्श की सम्भावना भी निःशेष हो गई है—जिन अन्योक्तियों में समाज के कतिपय वर्गों तथा चारों वर्णोंगत जातियों को विषय बनाया गया है उनमें भी उक्ति का लक्ष्य अलक्षित व्यक्ति रहने के कारण कटुता के स्थान पर सुग्राह्य उपदेश ही रहा है।"[32] उदाहरणार्थ दो छन्द द्रष्टव्य है—

1— कीजे सत उपकार को, खल मानै नमि कोय।
कंचन घट पै सींचिए, नींब न मीठो होय॥

2— दारो तुम या बाग में कहा हँसों मुख खोलि।
दिना चार की ग्रोप में लीजे नैंक कलोलि॥
लीजे नैंक कलोलि दसन की जो यह लाली।
जै है कहूँ बिलाय होयगी डाली ग्वाली॥

सन्दर्भ संकेत

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 323
2. "माषा बोलि न जानही, जिनके कुल के दास।"
तिन माषा कविता करी, जड़मति केशवदास॥"
3. डॉ. ग्रालोक कुमार रस्तोगी : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 307
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 268-269
5. "जन्म ग्वालियर जानिए, खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई ग्राई सुखद, मथुरा बसि ससुराल॥"
6. हिन्दी साहित्य का इतिहास—सं. डॉ. नगेन्द्र, पृ. 246
7. ग्राचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 246
8. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र : बिहारी की वाग्विभूति, पृ. 118
9. बिहारी ग्रौर देव—पृ. 73
10. सतसई सप्तक—पृ. 27
11. माषा भूषण - सं. बाबू गुलाबराय
12. विशाल भारत, ग्रगस्त ग्रंक 1930
13. राधा माधव विलासचम्पू
14. "कुल सुलंकि चित्रकूटपति, साहस-शील-समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई, हृदयराम सुत रूद्र॥"
15. हिन्दी साहित्य का सुबोध इतिहास, बाबू गुलाबराय, पृ. 106
16 ग्रोमप्रकाश सिंहल : उत्तर-मध्यकालीन कविता, पृ. 49
17. डॉ. ग्रालोककुमार रस्तोगी : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 327
18. वही : वही माग एक पृ. 328
19. ग्राचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 285
20. दिनकर : काव्य की भूमिका, पृ. 13
21. डॉ. सत्यदेव चौधरी : हिन्दी वांगमय का विकास, पृ. 274

22. डॉ. भगीरथ मिश्र : हिन्दी रीति साहित्य, पृ. 91
23. डॉ. महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर-मध्यकाल, पृ 153
24. वही : वही, पृ 139
25. आचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 352
26. डॉ. जगदीश गुप्त : रीति काव्य संग्रह, पृ' 327-328
27. वही : वही, पृ. 336
28. आचार्य शुक्ल : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 342
29. वही : वही, पृ. 350
30. डॉ. जगदीश गुप्त : रीति काव्य संग्रह, पृ. 309
31. डॉ. महेन्द्र कुमार : हिन्दी साहित्य का उत्तर मध्यकाल, पृ. 202
32. वही : वही, पृ. 231

———

7. रीतिकाल का गद्य-साहित्य

हिन्दी साहित्य के रीतिकाल में लिखित गद्य-साहित्य की चर्चा के बिना बात अधूरी जान पड़ती है। अतः इस अध्याय के अन्तर्गत आलोच्य काल में उपलब्ध गद्य-साहित्य का संक्षिप्त और परिचयात्मक विवेचन किया जा रहा है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि इस काल में भक्तिकाल की तुलना में गद्य का प्रयोग अधिक हुआ है। गद्य में कथा, कहानी, वार्ता, प्रवचन, जीवनी, वंशावली, पत्र, टीका-टिप्पणी आदि का लेखन हुआ है। कुछ ग्रन्थों के अनुवाद भी गद्य में किये गये हैं। यदि इस काल के गद्य का साहित्यिक मूल्यांकन करें तो लिखित और उपलब्ध गद्य-साहित्य दो प्रकार का दिखाई देता है। पहला ललितवर्ग में रखे जाने योग्य है और दूसरा अललित गद्य वर्ग में रखा जा सकता है। इस काल में जो गद्य-साहित्य लिखा गया है उसमें सुबोधता और सुग्राह्यता भक्तिकाल की अपेक्षा अधिक दिखाई देती है। ऐसा लगता है कि इस काल के लेखक यह अनुभव करने लगे थे कि तर्क, चिन्तन और ज्ञान से सम्बन्धित बातों को पद्य की तुलना में गद्य में अधिक सरलता से लिखा जा सकता है।

रीतिकाल के अन्तर्गत जो गद्य लिखा गया है, वह एक ओर तो ब्रजभाषा में लिखा गया है, दूसरी ओर राजस्थानी में उपलब्ध है तो तीसरी ओर अवधी भाषा में। रीतिकाल के अन्तिम चरण में खड़ी बोली का गद्य भी देखने को मिलता है। ब्रजभाषा गद्य, राजस्थानी गद्य, अवधी भाषा में लिखित गद्य और खड़ी बोली गद्य का क्रमिक विवेचन इस प्रकार किया जा सकता है।

ब्रजभाषा में लिखित गद्य :—रीतिकाल के अन्तर्गत ब्रजभाषा में लिखित गद्य एक सीमा तक विकसित और समृद्ध दिखाई देता है। रीतिकाल के पूर्वार्द्ध में ब्रजभाषा गद्य काफी लिखा गया तो रीतिकाल के उत्तरार्द्ध में पहुँचकर यह काफी कम हो गया। यह गद्य ललित और अललित दोनों ही प्रकार का है। ब्रजभाषा में जो गद्य लिखा गया है, वह वार्तापरक अधिक है। इस प्रकार के गद्य-लेखन के मूल में जो उद्देश्य दिखलाई देता है, वह वैष्णव भक्तों के पुष्टि सम्प्रदाय में दीक्षित होने और उनके जीवन-प्रसंगों से सम्बन्धित है। गोस्वामी बिट्ठलनाथ एवं गोस्वामी गोकुलनाथ के प्रवचन भी ब्रजभाषा-गद्य का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। अनेक वार्ताएँ बिट्ठलनाथ के जीवनकाल में लिखी गयी थीं। ऐसी वार्ताओं में "चौरासी वैष्णवन की वार्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता" के नाम विशेष

रूप से उल्लेखनीय है। रीतिकाल के अन्तर्गत जिन्होंने वार्ताओं को विरचित किया, उनमें हरिराय का नाम महत्त्वपूर्ण है। पुष्टिमार्गी वार्ता-साहित्य के अलावा धार्मिक सम्प्रदायों के अनुयायियों एवं सम्प्रदाय से बाहर के लोगों ने भी अनेक धार्मिक और उपदेश-प्रधान रचनाएँ गद्य में प्रस्तुत की हैं।

डॉ० महेन्द्रकुमार का मत है कि "इनके गद्य में सातत्य, प्रवाह और व्यंजना के कारण पर्याप्त परिष्कार और प्रौढ़ि का दर्शन होता है। इनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ, असंकुल एवं सजीव है। इस वर्ग के गद्यकारों में वल्लभ सम्प्रदाय के हरिराय के अतिरिक्त ब्रजभूषण और द्वारिकेश का, राधावल्लभ सम्प्रदाय के दामोदर स्वामी, प्राणनाथ और प्रियादास का तथा अन्य सम्प्रदायों के राम हरि और मदार अली का नाम उल्लेखनीय है।" उक्त धार्मिक गद्य के पश्चात् टिप्पणी और टीकापरक गद्य भी इस काल में लिखा गया है। यह गद्य प्रमुखतः इस काल में रचित काव्य-शास्त्रीय या अन्य शास्त्रीय विषयों से सम्बन्धित ग्रंथों में मिलता है। टीकापरक गद्य तुलसी, केशव, बिहारी, जसवन्तसिंह और मतिराम आदि के ग्रंथों को आधार बनाकर लिखा गया है। इस टीकापरक गद्य की भाषा कहीं सहज और स्वच्छ है तो कहीं तत्सम प्रधान है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि रीतिकालीन ब्रजभाषा गद्य अनेक रूपों में दिखाई देता है। इस काल के ब्रजभाषा गद्य के कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं :

1. "जैसे ही हनुमानजी ने मुक्तामाल को हार फोर डार्‌यो जो रामचन्द्र जी को वामें नाम नाही हतो। तातें डार दीनों। तैसें अपने श्री प्रभुजी के गुणानुवाद गान न होत होवें तहाँ ते उठि जैये। ऐसो पतिव्रता को धर्म है। जैसे मीराबाई के घर कीर्तन होत हुते। तहाँ श्री आचार्य जी पद गावत हुते। तब मीराबाई बोली जो अब ठाकुर जी के पद गावो।" ॥ पुष्टिदृढ़ाव ॥

2. "यामें बिम्ब है। मेरे मुष चंद देवें कमल सकुचत हैं। सो विकास मिटि जैहें अरु कोकन के सोक हैं। ताते रूपगर्विता नायिका रूप कारन कमल को सकुचिबो कारज ता सम्बन्ध ते सुद्ध सारोपा लच्छना है। नायका को रूप गुन सरोजन को दुष होय। ताते उल्लास अलंकार।" ॥ व्यंग्यार्थकौमुदी ॥

रीतिकालीन राजस्थानी गद्य :—रीतिकाल के अन्तर्गत राजस्थानी गद्य भी पर्याप्त मात्रा में लिखा गया। समीक्षकों एवं शोधकर्ताओं ने यह निष्कर्ष दिया है कि राजस्थानी गद्य ब्रजभाषा में लिखित गद्य से अधिक समृद्ध और व्यापक है। यह राजस्थानी गद्य बातों और ख्यातों में तो मिलता ही है, वचनिका, सलोका, पत्र, वंशावली, पट्टावली और दवावैत जैसी विधाओं में भी उपलब्ध है। वचनिका,

सलोका ग्रौर पत्रादि शुद्ध राजस्थानी गद्य में हैं। राजस्थानी गद्य मे लिखित वात साहित्य भी पर्याप्त चर्चित और प्रसिद्ध रहा है। रतना हमीर की वात, राव ग्रमरसिंह री वात, राव रिणमल की वात, ढोला मारवणी री वात, गोरा-बादल री वात ग्रौर 'बीरबल री वात' ग्रादि रचनाएँ राजस्थानी गद्य का ग्राकर्षक रूप प्रस्तुत करती हैं। वचनिकाग्रों के रूप में जो गद्य-साहित्य लिखा गया है, उसे भी विस्मृत नही किया जा सकता है। 'खिड़िया जगा प्रणीत', 'राठोर रतनसिंह जी महेस दासोत री वचनिका' तथा मेड़तावासी 'वृन्द' प्रणीत 'वचनिका स्थान किशनगढ़' उपलब्ध हैं जिनमे क्रमशः राठौड़ रतनसिंह ग्रौर राजा रूपसिंह के शौर्य का विवरण है। वर्णनपरक ग्रंथों में 'खीची गगेव नीबावत री दोपहरी', 'राजान राउत री वात-वणाव' 'रामदरस वैरावत री ग्राखड़ी री वात', 'मुत्कलानुप्रास' ग्रौर 'भोज-विच्छित्ति' उल्लेखनीय हैं। ये सभी ग्रंथ ललित गद्य के हैं ग्रौर स्थल-स्थल पर इनमें तुकमय गद्य का प्रयोग हुग्रा है।

राजस्थानी गद्य के दो उदाहरण देखिए :

1. 'तिणरा मुखरी ग्रोपमा तो पूरण चन्द्रमा ही न पावे। कहाँ कण ताई दीठा हीज वण ग्रावै। नैण जी के ग्रमृतरा हीज नैण। वेण जि को कोयल रो हीन वैण। घनप ज्यूं ही मुहां रोखच। नासिका जिका सुवा री चूच। ग्रधर प्रवाली जिसा वणियां। दात जाणे हीरा री कणियां। बांह तो चपा री डाल। हाथ पग जिके कमल सूं ही सुकुमाल। जिका हाली तो लजावै हंस री गति ने।'

(रतना हमीर री बात)

2 'ग्रापणौ शरीर सप्तधातुक। पिडरूपी जड क्षण विनस्वर ते हनै ग्रापणौ करी जाणै ते। ग्रादर महिमा करै ग्रनै मिथ्या मति भूलौ मूंपई रसोई ग्रनेरा जीवनौ मुकाम शरीर ग्रापण सरीपौ बसै वैजीवताम पदार्थ जिह्वा ते हनै देषी नै निरादर करै—।'

(समाधितन्त्र टीका)

रीतिकालीन ग्रवधी व भोजपुरी में लिखित गद्य रचनाएँ.—रीतिकाल के ग्रन्तर्गत कुछ रचनाएँ भोजपुरी व ग्रवधी में भी लिखी गयी। गद्य का प्रयोग ग्रवश्य किया गया है किन्तु विशेष उल्लेखनीय नही हैं। रीतिकालीन भोजपुरी मे पुरातन गद्य के नाम पर कुछ पत्र, दस्तावेज, सनद ग्रौर पंचनामे ग्रादि के ग्रलावा कोई ग्रथ नही मिलता है। ग्रवधी गद्य में मानुमिश्र द्वारा रचित रसविनोद तथा नित्यनाथ द्वारा प्रणीत 'उड्डील" व रामचरणदास द्वारा रचित "मानसटीका' महाराज विश्वनाथसिंह प्रणीत 'कबीरबीजक टीका' व 'परमधर्म' निर्णय' जैसे ग्रंथ उपलब्ध हैं।

रीतिकालीन खड़ी बोली गद्य —रीतिकाल मे खड़ी बोली में लिखित जो गद्य मिलता है, वह प्रायः मिश्रित ब्रजभाषा में उपलब्ध है। खड़ी बोली का शुद्ध रूप 19वीं शताब्दी से पहले नही मिलता है। तात्कालिक रचनाओं में जो भाषा प्रयुक्त हुई है, वह या तो पूर्वी हिन्दी से प्रभावित है अथवा राजस्थानी या पंजाबी से प्रभावित है। फिर भी जो खड़ी बोली गद्य लिखा गया है, उसमें धर्म, दर्शन, चिकित्साशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, इतिहास, भूगोल, सामुद्रिक, शकुन और गणित आदि विषयो के अभिव्यंजन के लिए लिखा गया है। इस समय की कतिपय मौलिक गद्य-कृतियां ये हैं:— 'एकादशी महिमा', 'सीधा रास्ता' 'फर्शनामा' 'बाजनामा', 'हकीकत', 'विश्वातीत विलास नाटक', 'सुरासुर निर्णय', 'मोक्ष मार्ग प्रकाश' और चिद्विलास' आदि। ये वे कृतियां हैं जिनमें से अधिकाश में खड़ी बोली की शब्दावली मात्र प्रयुक्त हुई है। अधिकतर ब्रज, राजस्थानी, पंजाबी भाषा का प्रभाव दिखाई देता है। इसके अलावा कुछ ऐसी रचनाएँ भी हैं जो या तो भक्तो द्वारा लिखी गयी हैं या जैन रचनाकारो द्वारा। प्रायः सभी जैन वचनिकाएँ राजस्थानी ब्रजभाषा से प्रभावित खड़ी बोली का रूप प्रस्तुत करती है। ब्रजभाषा मिश्रित खड़ी बोली में जो गद्य उपलब्ध है, उसमें टिप्पण- टीकाएँ उल्लेखनीय हैं। पाण्डेय हेमराज कृत 'प्रवचन सार टीका', 'पचास्तीकाय टीका', जिनसमुद्रसूरि द्वारा रचित 'भर्तृहरिवैराग्यशतक टीका', भगवानदास कृत 'भाषामृत गीता टीका', दयाल अनेमी प्रणीत 'अष्टावक्र गीता भाषा', गीताभाषा', आनन्द घन प्रणीत 'जपु टीका', किसनदास किसोरदास प्रणीत 'गीता भाषा', भाई सन्तोष सिंघ प्रणीत 'गरब भजनी टीका', काशीनाथ प्रणीत 'अजीर्ण मजरी टीका', ईसवी खां प्रणीत 'बिहारी सतसई की टीका', 'गोरखनाथ के सत्ताईस पदो का तिलक', 'कबीर के 121 पदो की टीका', राजभजन प्रणीत 'दृष्टान्त सागर टीका', हरिजी प्रणीत 'सुषमनी सहसर नाम परमारथ' आदि उल्लेखनीय है।

19वी शताब्दी के प्रारम में फोर्ट विलियम कालेज की स्थापना के साथ-साथ खड़ी बोली गद्य का प्रचार बढा और कई महत्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गये। ऐसे महत्वपूर्ण ग्रंथो मे सदल मिश्र का 'नासिकेतोपाख्यान' और 'रामचरित' लल्लूलाल का 'प्रेमसागर', काजिमअली की सहायता मे लिखित 'सिंहासन बत्तीसी', मजहर अली प्रणीत 'बैताल पच्चीसी', तारणीचरण मित्र द्वारा लिखित 'भक्तमाल टीका' और इंशाअल्ला कृत 'रानी केतकी की कहानी' आदि के नाम लिये जा सकते है। खड़ी बोली रीतिकाल के अन्तिम चरण में अपने आपको स्वतत्र अस्तित्व के साथ प्रस्तुत करने के लिए अकुला रही थी। यह बात खड़ी बोली गद्य मे लिखित भाषायोग वाशिष्ठ, पचागदर्शन, रानी केतकी की कहानी और प्रेमसागर से प्रमाणित हो जाती है। कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य है :

1. ताते मन विषे जो कछु कलना है तिस का त्याग करि मोक्ष की इच्छा का . करि बधन वृत्ति को भी त्याग करि है राम जी वैराग्य अरु विवेक अभ्यास

करिके मन को निर्मल किए जब मन निर्मल हुआ तब मन का मननभाव नष्ट हो जावेगा। जब यह फुर्ता-फुर्ता है तो मैं मुक्त होऊँ तब मन जाग जाता है अरू मनके जागे तें ममत भी हो जाता है। मन हुआ तब अपने साथ शरीर भी भासि आता है।' ।। भाषायोगवासिष्ठ ।।

2. "उन सभी पर गन्धारव कुंजनियां रामजनियां डोमनियां भरी हुई अपने-अपने करतबों में नाचती गाती बजाती कूदतीं फांदती घूमें मचातियां अगडातियां जम्हातियां उंगली नचातियां ढुली पड़तियां थी।" ।। रानी केतकी की कहानी ।।

3. "एक समय व्यासदेव कृत भागवत के दशम स्कंध की कथा को चतुरभुज मिश्र के दोहे-चौपाई में ब्रजभाषा किया सो पाठशाला के लिए श्री महाराजाधिराज सकल गुन निधान पुन्यवान महाजान भार को इस बलिजली गवर्नर-जनरल प्रतापी के राज मे और श्रीयुक्त गुन गाहक गुनियन सुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् 1860 में श्री लल्लूलाल कवि ने बिस का सार ले यामिनी भाषा छोड दिल्ली आगरे की खडी बोली मे कह नाम प्रेमसागर धरा।" ।। प्रेमसागर ।।

रीतिकाल का वैशिष्ट्य :

अन्त में यही कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य का रीतिकाल शृंगार और कलात्मक प्रदर्शन का काल रहा है। इस काल के कवियों मे कवि और आचार्य एक साथ बनने की प्रवृत्ति दिखलाई देती है। शृंगार के सदर्भ से इस काल की निन्दा-चाहे कितनी भी की जाय, किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि शृंगार की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म स्थितियों का प्रस्तुतीकरण कलात्मक शिल्प मे करने वाला यही काल है। भक्तिकाल यदि विषयवस्तु के आधार पर अपने समय का स्वर्णयुग है तो रीतिकाल कला-वैभव की दृष्टि से स्वर्ण-युग की अभिधा से मडित किया जा सकता है। समूचे रीतिकाल और उसके साहित्य के आधार पर यह अवश्य कहा जा सकता है कि इस काल के कवियों ने जीवन का केवल एक ही पक्ष देखा, अपने समय और समाज के भीतर उठती रहने वाली समस्याओं को ये कवि नजरंदाज कर गये। ऐसा लगता है जैसे ये किसी हल को पाना तो चाहते थे किन्तु मूल्य-बोध के अभाव में ये हल या समाधान के निकट पहुँचने ही नही पाए एक प्रकार से मूल्यान्वेषण का प्रयास समूचे रीतिकाल मे कहीं नहीं दिखलाई देता है।